॥ श्रीराधासर्वेश्वरो विजयते ॥

॥ श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः॥

श्रीवेदान्तकामधेनु-दशश्लोकी

लघुमञ्जूषा व्याख्या सहित
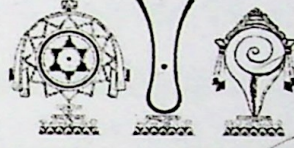
।। श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः ।।

जगद्गुरु श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य प्रणीत-

श्रीवेदान्तकामधेनु-दशश्लोकी

विद्वद्वर श्रीगिरिधरप्रपन्न विरचित-

लघुमञ्जूषा व्याख्या सहिता

भाषानुवादक-

विद्वद्वरेण्य नैयायिक श्रीश्यामाशरण न्यायाचार्य

निम्बार्कसदन, रमणरेती, वृन्दावन

मथुरा (उ० प्र०)

मिति-आषाढ शुक्ल १५ मंगलवार

दिनांक १९/७/२०१६

वि० सं० २०७३ श्रीनिम्बार्काब्द ५०११

भूमिका

श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य रचित ''वेदान्तदशश्लोकी'' वेदान्त तत्त्वों का सारभूत ग्रन्थ है। वेद में नाना श्रुतियाँ हैं जिनमें अद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत आदि का विवेचन है। दशश्लोकी में सभी श्रुतियों का समन्वय करते हुए स्वाभाविक द्वैताद्वैत सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की गई है। निम्बार्क भगवान् के रहस्यपूर्ण वचनों का विस्तार ''वेदान्तरत्न मञ्जूषा'' (पुरुषोत्तमाचार्य प्रणीत टीका) में किया गया है। सामान्य जिज्ञासुओं के लिए कहीं यह ग्रन्थ कठिन हो गया है। काठिन्य को दूर करने के लिए श्रीगिरिधरप्रपन्नजी ने मञ्जूषा का सार ''लघुमञ्जूषा'' में लिखा है। वे स्वयं लिखते हैं--

लघुमञ्जूषिकां टीकां दशश्लोक्याः करोम्यहम्।
मञ्जूषैवात्र संक्षेपाल्लिखिता यत्र कुत्रचित्।।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा में दशश्लोकी को चार कोष्ठ या कोष्ठिकाओं में विभक्त किया है। प्रथम कोष्ठिका में प्रथम से पञ्चम श्लोक तक को समाहित किया है इन श्लोकों में तत्त्वत्रय का विवेचन है। द्वितीय कोष्ठिका में षष्ठ से सप्तम श्लोक संगृहीत है। इन श्लोकों में ''तत्त्वमसि'' इस महावाक्यार्थ का रहस्य प्रतिपादित है। तृतीय कोष्ठिका में अष्टम एवं नवम श्लोक दिए गए हैं जिनमें साधनों का विवेचन है। चतुर्थ कोष्ठिका में दशम श्लोक है। यहाँ साधना का फल निरूपित है।

भगवान् श्रीनिम्बार्क के अनुसार तीन तत्त्व हैं। चेतन, अचेतन और ब्रह्म (भगवान् श्रीराधामाधव) ये तीन तत्त्व हैं। चेतन तत्त्व को ही जीव कहा गया है वही उपासक है इसे ही त्वम् पद के द्वारा कहा गया है प्रत्यगात्मस्वरूप जीव ज्ञानस्वरूप है यह स्वयं ज्योति कहा जाता है। ''अहं ब्रह्मास्मि'' इस महावाक्य में अहं पद से जीव ही वाच्य है न कि प्रकृति का कार्यभूत अहंकार। यद्यपि जीव और ईश्वर दोनों ज्ञानस्वरूप हैं किन्तु जीव ईश्वर के अधीन है ''हरेरधीनम्'' इति। जीव प्रकृति के समान परतन्त्र है किन्तु जीव चेतन है प्रकृति अचेतन है। जीव अणु स्वरूप है किन्तु अपने ज्ञानभूत धर्म से विभु है वह इसी धर्म से संमग्र देह

में व्याप्त रहता है जैसे कहा गया है–

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।

जैसे अकेला सूर्य एक स्थान पर रहता हुआ भी अपने प्रकाश धर्म से समस्त लोक को प्रकाशित करता है वैसे ही अणुस्वरूप जीव भी अपने ज्ञानभूत विभु धर्म से समस्त देह को प्रकाशित करता है। जीव प्रतिदेह में भिन्न है अनन्त है तथा ज्ञातृत्ववान् (ज्ञानधर्माश्रय) है। वह कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि शक्तियों से सम्पन्न है। दशश्लोकी के प्रथम श्लोक में जीव के स्वरूप का विवचेन है। जीव को अपने गुणों की अनुभूति क्यों नहीं होती है? इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं कि जीव अनादि माया से परिच्छिन्न है भगवान् की प्रसन्नता से जीव को ज्ञान होता है।

द्वितीय तत्त्व अचेतन है इसमें ज्ञान आदि धर्म नहीं होते हैं। यह अचेतन तत्त्व भी प्राकृत, अप्राकृत और काल भेद से तीन प्रकार का होता है। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है तथा वह और उससे आविर्भूत होने वाले तत्त्व प्राकृत कहे गए हैं। प्रकृति को ही माया या प्रधान भी कहते हैं। प्रकृति, महत्, अहंकार, एकादश इन्द्रियाँ, पञ्च तन्मात्राएँ एवं पञ्चमहाभूत ये चोईस तत्त्व प्राकृत हैं। सृष्टि के उत्पत्ति क्रम में भगवान् से क्षुभित होकर प्रकृति महत् को प्रकट करती है उससे अहंकार प्रकट होता है। अहंकार सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का होता है। सात्त्विक अहंकार से इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता एवं मन होते हैं। मन ही वृत्ति और स्थान भेद से अन्तःकरण चतुष्टय कहा जाता है। राजस अहंकार से दश इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ) तामस अहंकार से पञ्च तन्मात्राएँ एवं पञ्च महाभूत उत्पन्न होते हैं। पञ्च महाभूतों की पञ्चीकरण प्रक्रिया से स्थूल देह उत्पन्न होते हैं। तन्मात्रपञ्चक (एक), मन दश इन्द्रियाँ और पञ्च प्राण (१७) ये सूक्ष्मदेह के उपादान कारण है। उत्पत्ति के विपरीत क्रम से सृष्टि का लय होता है। जैसे पृथिवी गन्ध तन्मात्रा के माध्यम से जल में लीन

होती है, जल रसतन्मात्रा के द्वारा तेज में।

अचेतन में द्वितीय तत्त्व है अप्राकृत। सत्त्व, रज और तमोगुण का आश्रय स्वरूप प्रधान माया और काल से भिन्न तथा कोटिसूर्यवत् प्रकाशमान, स्वभावतः आवरणशून्य अचेतन द्रव्य को अप्राकृत कहते हैं-''आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।'' आनन्द का अभिव्यञ्जक होने से इसे भगवद्धाम व्योम, परम व्योम, विष्णु पद और परम आदि भी कहते हैं। यह भगवान् के संकल्प मात्र से भगवान् तथा नित्यमुक्तों के भोग्यादि रूप से नाना प्रकार का है। वह अप्राकृत भगवद्धाम कालातीत वस्तु है अतः वहाँ काल का प्रभाव नहीं है।

तृतीय अचेतन तत्त्व काल है यह प्राकृत-अप्राकृत से भिन्न है। यह नित्य और विभु है। काल ही भूत, भविष्य, वर्तमान, चिर, क्षिप्र आदि व्यवहार का कारण है, यही सृष्टि और प्रलय का निमित्त है। यह परमाणु से परार्द्ध पर्यन्त होता है। इसी में क्रतु, त्रेता आदि चतुर्युग आते हैं। काल परमेश्वर से नियन्त्रित है। लीला विभूति में परमेश्वर का काल के परतन्त्र होना केवल अनुकरण मात्र है। नित्यविभूति में काल का प्रभाव नहीं होता है। त्वम् पदार्थजीव तथा उसके भोग्य अचेतन पदार्थ का विवेचन करने के पश्चात् सुदर्शनचक्रावतार भगवान् श्रीनिम्बार्क ने तत्पदवाच्य स्वभावतः समस्तदोषों से रहित, अशेषकल्याण गुणैकराशि, परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप का विवेचन किया है ''स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोष'' परमात्मा अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश आदि पञ्च क्लेशों, जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय और मरण आदि छह विकारों से रहित है। वह प्रकृति के गुणत्रय एवं उनके कार्यभूत अनन्त बद्ध-क्षेत्रज्ञ-धर्म इन सब आश्रयों से रहित है। परमात्मा ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, तेज, वीर्य, सौशील्य आदि अनन्त गुणों वाला है। देश, काल और वस्तु के आवरण से रहित बृंहण शील परमात्मा को ब्रह्म कहते हैं और वह भगवत्पदवाच्य पुरुषोत्तम रमाकान्त श्रीकृष्ण है, अवतारदशा में भी वह परिपूर्ण, ब्रह्मस्वरूप ही हैं। इसीलिए इन्हें व्यूहाङ्गी कहा गया है। व्यूह शब्द से अन्य अवतारों का ग्रहण होता

है। परमात्मा श्रीकृष्ण ही उपासकों के लिए उपास्य है। साम्प्रदायिक जनों को निरन्तर भगवद् ध्यान में ही निरत रहना चाहिए। ''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'' परमात्मा स्वरूप श्रीकृष्ण राधा, रुक्मिणी और सत्यभामा के साथ अविनाभाव रूप में विराजमान रहते हैं। **''राधया माधवो देवो माधवेन च राधिका।''**

कृष्णात्मिका जगद्धात्री मूलप्रकृतिरुक्मिणी।
व्रजस्त्रीजनसंभूता श्रुतिभ्यो ब्रह्मसंगता।।

वेदान्तदशश्लोकी में ''तत्त्वमसि'' इस महावाक्यार्थ की दृष्टि से तत् पद से सर्वशक्ति, सर्वगुणोपेत, विश्वात्म, स्वतन्त्रसत्तात्मक परब्रह्म श्रीकृष्ण का विवेचन है। तथा ''त्वम्'' पद से परतन्त्रसत्ताश्रय जीवात्मा (ब्रह्म) का प्रतिपादन है तथा ''असि'' पद दोनों के सम्बन्ध का बोधक है। यह सम्बन्ध स्वाभाविक भिन्नाभिन्नत्व (द्वैताद्वैत) है। अर्थात् श्रीकृष्ण स्वाश्रित आत्मसत्ता से सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है अतः विश्व से अभिन्न है तथा अपने आत्मीय तथा नियम्य चेतन में रहने वाली परतन्त्र सत्ता का अभाव श्रीकृष्ण में रहने से वह विश्व से भिन्न भी हैं अतः विश्व से भिन्न होते हुए अभिन्न पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण है।

उपासक गुरु से दीक्षित होकर भगवान् की शरणागति स्वीकार करके भक्ति करे क्योंकि और कोई मार्ग नहीं है-

''नान्यागतिः कृष्णपदारविन्दात्'' ''नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'' गुरु की शरणागति के बिना भक्ति सम्भव नहीं है जैसा कि कहा गया है-

न विना गुरुसम्बन्धं ज्ञानस्याधिगमः कृतः।
गुरु पारयिता तस्य ज्ञानं प्लवमिहोच्यते।।

भक्ति से ही परमात्मा की कृपा मिलती है तथा कृपा का फल संसार के दुःखों से छुटकारा तथा भगवान् के अनन्त गुणों की अनुभूति है।

उपास्य स्वरूप, उपासक स्वरूप एवं साधन मार्ग के विरोधी तत्त्वों को समझ कर की गई पराभक्ति फलीभूत होती है अतः विरोधी तत्त्वों का भी विवचेन किया गया है।

वेदान्तदशश्लोकी के रहस्य को समझने के लिए वेदान्तरत्नमञ्जूषा तथा मञ्जूषा को समझने के लिए लघुमञ्जूषा का अध्ययन परम उपयोगी है। संस्कृत टीका को समझने के लिए श्रीश्यामाशरणजी नैयायिकजी ने बहुत परिश्रम पूर्वक इसका हिन्दी अनुवाद किया है। जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री ''श्रीजी'' महाराज की अनुकम्पा से इस ग्रन्थ का अन्तिम प्रूफ देखने को मिला। सावधानी पूर्वक कार्य करते हुए कुछ स्थान पर छूटे हुए (पृष्ठ सं. ३१ से ३६, पृष्ठ सं. ५५ से ५७ एवं पृष्ठ सं. ९४ से १०६ पर्यन्त) अनुवाद कार्य को भी पूरा कर दिया गया। इस ग्रन्थ के अध्ययन से वेदान्तरत्नों का ज्ञान अवश्य होगा। जगद्गुरुजी के चरणों में प्रणति।

श्री ''श्रीजी'' महाराज का सेवक--
निम्बार्कभूषण **डॉ. दूलीचन्द शर्मा** साहित्याचार्य
मुरलीपुरा (जोबनेर) वास्तव्य
प्राचार्य-श्रीसर्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालय
निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद)
जि. अजमेर (राजस्थान)

लघुमञ्जूषा व्याख्या सहित
दशश्लोकी

वरेण्यम्ब्रह्माद्यैर्विविधविबुधैर्वन्द्यमनिशं
सुवेद्यम्वेदान्तैर्भवविटपबीजं यदुपतेः।
शरण्यं सर्वेषां चरणकमलं नौमि सततं
सदा वृन्दारण्ये पशुपपशुवृन्दानुगमनम्।।१।।
नत्वाऽऽद्याचार्यपादाब्जं स्मृत्वा कृष्णपदाम्बुजम्।।
लघुमंजूषिकां टीकां दशश्लोक्याः करोम्यहम्।।२।।
मंजूषैवात्र संक्षेपाल्लिखिता यत्र कुत्रचित्।।
विलक्षणं च बालानां सुखबोधो यतो भवेत्।।३।।

लालितो नन्दगोपेन यशोमत्या च पालितः।
रमते राधिका सङ्गे श्रीकृष्णः शन्तनोतु नः।।१।।

श्रीग्रन्थकार गिरिधरप्रपन्न ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए श्रीकृष्ण का मंगलाचरण करते हैं। यदुपति श्रीकृष्ण के चरणकमलों को निरन्तर नमस्कार करता हूँ। कैसे हैं चरण कमल? सम्पूर्ण प्राणियों के लिए शरण्य-आश्रयप्रद एवं रक्षक हैं, वह चरणकमल वृन्दावन में पशुप-गोप एवं पशुवृन्द का सदा ही अनुगमन करते हैं। कैसे हैं यदुपति? ब्रह्मादि वरेण्य विविध देवताओं के द्वारा निरन्तर वन्दनीय हैं। एवं वेदान्त वाक्यों द्वारा वेद्य हैं, संसार रूप वृक्ष का बीजम्=अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं। यद्यपि बीज शब्द का उपादान कारण अर्थ होता है तथापि बीज शब्द की उभय उपहितविद्या कारण में लक्षणा है। क्योंकि वेदान्त दर्शन में परमात्मा को अभिन्न निमित्त उपादान कारण माना है।।१।।

अब ग्रन्थकार भगवन्निम्बार्काचार्य का मंगलाचरण करते हैं। आद्याचार्य (श्रीनिम्बार्काचार्य) के चरणकमल को नमस्कार करके एवं श्रीकृष्ण के चरण कमलों का स्मरण करके दशश्लोकी (वेदान्त कामधेनु की) लघुमंजूषिका टीका को करता हूँ इस टीका में यह कहीं हमने भी न मंजूषा

(वेदान्तरत्नमंजूषा) को ही संक्षेप से लिखा है। तो इसकी विलक्षणता क्या है? कहने का तात्पर्य यह है कि वेदान्तरत्न मंजूषा ग्रन्थ अत्यन्त विस्तृत है उसमें ब्रह्मसूत्र के गम्भीर विचारों को उद्धृत किया है। पूर्व मीमांसा की परिसंख्यादिविधियों का निरूपण है। एवं अनेक अनुमान एवं हेत्वाभासों का जटिल निरूपण है। जिससे ग्रन्थ के विषय को साधारण व्यक्ति के लिए समझना अत्यन्त कठिन है। ग्रन्थकार ने उन जटिल विषयों का परित्याग कर मूल अर्थ के बोधन कराने का स्तुत्य प्रयास किया है।।३।।

इह खलु निखिलचेतनाचेतनात्मकानन्तकोटिब्रह्माण्डोद्भवस्थिति-लयलीलस्यानन्ताचिन्त्यापरिमितनिरवधिकातिशयस्वरूपगुणशक्तिकस्य केशशेषाद्यमरनिकराधीशावतंसरत्ननिकरदीधितिनीराजिताङ्घ्रियुगल-नखज्योत्स्नाभिहतनिजजनान्तःकरणाज्ञानतिमिरस्य निजमायाकृताप्त-बन्धनात्मविमुखविश्वजीवोद्दिधीर्षोर्भगवतो महाविभूतिपतेः पुरुषोत्तम-स्यायुधप्रवरोऽगणितानन्तकोटिप्रचण्डचण्डांशुसमप्रकाशः सुदर्शनो जगदुद्दिधीर्षया भगवदाज्ञयाऽवनितले तैलंगदेशे द्विजवररूपेणावतीर्य्य तत्र नियमानन्दनिम्बादित्यनिम्बार्केत्यादिनामभिर्विख्यातो भूत्वा ततः श्रीमद्धंस्वरूपनारायणशिष्याच्चतुःसनाल्लब्धदीक्षान्नारदात्संप्राप्ताष्टादशाक्षर-मन्त्रराजस्तथोक्तं विष्णुयामले--

> **नारायणमुखाम्भोजान्मन्त्रस्त्वष्टादशाक्षरः ।**
> **आविर्भूतः कुमारैस्तु गृहीत्वा नारदाय च ।।**
> **उपदिष्टः स्वशिष्याय निम्बार्काय च तेन तु।**
> **एवं परम्पराप्राप्तो मन्त्रस्त्वष्टादशाक्षरः ।।**

इतिप्रामाण्यात्सत्संप्रदायप्रवर्त्तकः सर्वाद्याचार्यः श्रीनियमानन्दो दशश्लोकीं निर्ममे। तस्या व्याख्या तु पूर्वाचार्य्यैर्विस्तरतः कृताऽपि मया मन्दमतीनां बुद्धिप्रवेशार्थं तेषु तेषु तत्तदर्थमादाय मिताक्षरैः क्रियते हरिगुर्वनुग्रहकामेन।

तत्र विवरणभूतायां वेदान्तरत्नमंजूषायां कोष्ठचतुष्टयं कथितं तदत्रापि ज्ञेयं तथाहि--

> **तत्त्वत्रयं प्रथमके वाक्यार्थं च द्वितीयके।**
> **तृतीये साधनं प्रोक्तं फलं कोष्ठे चतुर्थके।।**

में व्याप्त रहता है जैसे कहा गया है-

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।

जैसे अकेला सूर्य एक स्थान पर रहता हुआ भी अपने प्रकाश धर्म से समस्त लोक को प्रकाशित करता है वैसे ही अणुस्वरूप जीव भी अपने ज्ञानभूत विभु धर्म से समस्त देह को प्रकाशित करता है। जीव प्रतिदेह में भिन्न है अनन्त है तथा ज्ञातृत्ववान् (ज्ञानधर्माश्रय) है। वह कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि शक्तियों से सम्पन्न है। दशश्लोकी के प्रथम श्लोक में जीव के स्वरूप का विवचेन है। जीव को अपने गुणों की अनुभूति क्यों नहीं होती है? इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं कि जीव अनादि माया से परिच्छिन्न है भगवान् की प्रसन्नता से जीव को ज्ञान होता है।

द्वितीय तत्त्व अचेतन है इसमें ज्ञान आदि धर्म नहीं होते हैं। यह अचेतन तत्त्व भी प्राकृत, अप्राकृत और काल भेद से तीन प्रकार का होता है। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है तथा वह और उससे आविर्भूत होने वाले तत्त्व प्राकृत कहे गए हैं। प्रकृति को ही माया या प्रधान भी कहते हैं। प्रकृति, महत्, अहंकार, एकादश इन्द्रियाँ, पञ्च तन्मात्राएँ एवं पञ्चमहाभूत ये चोईस तत्त्व प्राकृत हैं। सृष्टि के उत्पत्ति क्रम में भगवान् से क्षुभित होकर प्रकृति महत् को प्रकट करती है उससे अहंकार प्रकट होता है। अहंकार सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का होता है। सात्त्विक अहंकार से इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता एवं मन होते हैं। मन ही वृत्ति और स्थान भेद से अन्तःकरण चतुष्टय कहा जाता है। राजस अहंकार से दश इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ) तामस अहंकार से पञ्च तन्मात्राएँ एवं पञ्च महाभूत उत्पन्न होते हैं। पञ्च महाभूतों की पञ्चीकरण प्रक्रिया से स्थूल देह उत्पन्न होते हैं। तन्मात्रपञ्चक (एक), मन दश इन्द्रियाँ और पञ्च प्राण (१७) ये सूक्ष्मदेह के उपादान कारण है। उत्पत्ति के विपरीत क्रम से सृष्टि का लय होता है। जैसे पृथिवी गन्ध तन्मात्रा के माध्यम से जल में लीन

होती है, जल रसतन्मात्रा के द्वारा तेज में।

अचेतन में द्वितीय तत्त्व है अप्राकृत। सत्त्व, रज और तमोगुण का आश्रय स्वरूप प्रधान माया और काल से भिन्न तथा कोटिसूर्यवत् प्रकाशमान, स्वभावतः आवरणशून्य अचेतन द्रव्य को अप्राकृत कहते हैं-''आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।'' आनन्द का अभिव्यञ्जक होने से इसे भगवद्धाम व्योम, परम व्योम, विष्णु पद और परम आदि भी कहते हैं। यह भगवान् के संकल्प मात्र से भगवान् तथा नित्यमुक्तों के भोग्यादि रूप से नाना प्रकार का है। वह अप्राकृत भगवद्धाम कालातीत वस्तु है अतः वहाँ काल का प्रभाव नहीं है।

तृतीय अचेतन तत्त्व काल है यह प्राकृत-अप्राकृत से भिन्न है। यह नित्य और विभु है। काल ही भूत, भविष्य, वर्तमान, चिर, क्षिप्र आदि व्यवहार का कारण है, यही सृष्टि और प्रलय का निमित्त है। यह परमाणु से परार्द्ध पर्यन्त होता है। इसी में क्रतु, त्रेता आदि चतुर्युग आते हैं। काल परमेश्वर से नियन्त्रित है। लीला विभूति में परमेश्वर का काल के परतन्त्र होना केवल अनुकरण मात्र है। नित्यविभूति में काल का प्रभाव नहीं होता है। त्वम् पदार्थजीव तथा उसके भोग्य अचेतन पदार्थ का विवेचन करने के पश्चात् सुदर्शनचक्रावतार भगवान् श्रीनिम्बार्क ने तत्पदवाच्य स्वभावतः समस्तदोषों से रहित, अशेषकल्याण गुणैकराशि, परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप का विवेचन किया है ''स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोष'' परमात्मा अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश आदि पञ्च क्लेशों, जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय और मरण आदि छह विकारों से रहित है। वह प्रकृति के गुणत्रय एवं उनके कार्यभूत अनन्त बद्ध-क्षेत्रज्ञ-धर्म इन सब आश्रयों से रहित है। परमात्मा ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, तेज, वीर्य, सौशील्य आदि अनन्त गुणों वाला है। देश, काल और वस्तु के आवरण से रहित बृंहण शील परमात्मा को ब्रह्म कहते हैं और वह भगवत्पदवाच्य पुरुषोत्तम रमाकान्त श्रीकृष्ण है, अवतारदशा में भी वह परिपूर्ण, ब्रह्मस्वरूप ही हैं। इसीलिए इन्हें व्यूहाङ्गी कहा गया है। व्यूह शब्द से अन्य अवतारों का ग्रहण होता

है। परमात्मा श्रीकृष्ण ही उपासकों के लिए उपास्य है। साम्प्रदायिक जनों को निरन्तर भगवद् ध्यान में ही निरत रहना चाहिए। ''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'' परमात्मा स्वरूप श्रीकृष्ण राधा, रुक्मिणी और सत्यभामा के साथ अविनाभाव रूप में विराजमान रहते हैं। **''राधया माधवो देवो माधवेन च राधिका।''**

कृष्णात्मिका जगद्धात्री मूलप्रकृतिरूक्मिणी।
व्रजस्त्रीजनसंभूता श्रुतिभ्यो ब्रह्मसंगता।।

वेदान्तदशश्लोकी में ''तत्त्वमसि'' इस महावाक्यार्थ की दृष्टि से तत् पद से सर्वशक्ति, सर्वगुणोपेत, विश्वात्म, स्वतन्त्रसत्तात्मक परब्रह्म श्रीकृष्ण का विवेचन है। तथा ''त्वम्'' पद से परतन्त्रसत्ताश्रय जीवात्मा (ब्रह्म) का प्रतिपादन है तथा ''असि'' पद दोनों के सम्बन्ध का बोधक है। यह सम्बन्ध स्वाभाविक भिन्नाभिन्नत्व (द्वैताद्वैत) है। अर्थात् श्रीकृष्ण स्वाश्रित आत्मसत्ता से सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है अतः विश्व से अभिन्न है तथा अपने आत्मीय तथा नियम्य चेतन में रहने वाली परतन्त्र सत्ता का अभाव श्रीकृष्ण में रहने से वह विश्व से भिन्न भी हैं अतः विश्व से भिन्न होते हुए अभिन्न पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण है।

उपासक गुरु से दीक्षित होकर भगवान् की शरणागति स्वीकार करके भक्ति करे क्योंकि और कोई मार्ग नहीं है–

''नान्यागतिः कृष्णपदारविन्दात्'' ''नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'' गुरु की शरणागति के बिना भक्ति सम्भव नहीं है जैसा कि कहा गया है–

न विना गुरुसम्बन्धं ज्ञानस्याधिगमः कृतः।
गुरु पारयिता तस्य ज्ञानं प्लवमिहोच्यते।।

भक्ति से ही परमात्मा की कृपा मिलती है तथा कृपा का फल संसार के दुःखों से छुटकारा तथा भगवान् के अनन्त गुणों की अनुभूति है।

उपास्य स्वरूप, उपासक स्वरूप एवं साधन मार्ग के विरोधी तत्त्वों को समझ कर की गई पराभक्ति फलीभूत होती है अतः विरोधी तत्त्वों का भी विवचेन किया गया है।

वेदान्तदशश्लोकी के रहस्य को समझने के लिए वेदान्तरत्नमञ्जूषा तथा मञ्जूषा को समझने के लिए लघुमञ्जूषा का अध्ययन परम उपयोगी है। संस्कृत टीका को समझने के लिए श्रीश्यामाशरणजी नैयायिकजी ने बहुत परिश्रम पूर्वक इसका हिन्दी अनुवाद किया है। जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री ''श्रीजी'' महाराज की अनुकम्पा से इस ग्रन्थ का अन्तिम फ्रूफ देखने को मिला। सावधानी पूर्वक कार्य करते हुए कुछ स्थान पर छूटे हुए (पृष्ठ सं. ३१ से ३६, पृष्ठ सं. ५५ से ५७ एवं पृष्ठ सं. ९४ से १०६ पर्यन्त) अनुवाद कार्य को भी पूरा कर दिया गया। इस ग्रन्थ के अध्ययन से वेदान्तरत्नों का ज्ञान अवश्य होगा। जगद्गुरुजी के चरणों में प्रणति।

श्री ''श्रीजी'' महाराज का सेवक--

निम्बार्कभूषण **डॉ. दूलीचन्द शर्मा** साहित्याचार्य

मुरलीपुरा (जोबनेर) वास्तव्य

प्राचार्य-श्रीसर्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालय

निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद)

जि. अजमेर (राजस्थान)

लघुमञ्जूषा व्याख्या सहित
दशश्लोकी

वरेण्यम्ब्रह्माद्यैर्विविधविबुधैर्वन्द्यमनिशं
सुवेद्यम्वेदान्तैर्भवविटपबीजं यदुपतेः।
शरण्यं सर्वेषां चरणकमलं नौमि सततं
सदा वृन्दारण्ये पशुपपशुवृन्दानुगमनम्।।१।।
नत्वाऽऽद्याचार्यपादाब्जं स्मृत्वा कृष्णपदाम्बुजम्।।
लघुमंजूषिकां टीकां दशश्लोक्याः करोम्यहम्।।२।।
मंजूषैवात्र संक्षेपाल्लिखिता यत्र कुत्रचित्।।
विलक्षणं च बालानां सुखबोधो यतो भवेत्।।३।।

लालितो नन्दगोपेन यशोमत्या च पालितः।
रमते राधिका सङ्गे श्रीकृष्णः शन्तनोतु नः।।१।।

श्रीग्रन्थकार गिरिधरप्रपन्न ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए श्रीकृष्ण का मंगलाचरण करते हैं। यदुपति श्रीकृष्ण के चरणकमलों को निरन्तर नमस्कार करता हूँ। कैसे हैं चरण कमल? सम्पूर्ण प्राणियों के लिए शरण्य-आश्रयप्रद एवं रक्षक हैं, वह चरणकमल वृन्दावन में पशुप-गोप एवं पशुवृन्द का सदा ही अनुगमन करते हैं। कैसे हैं यदुपति? ब्रह्मादि वरेण्य विविध देवताओं के द्वारा निरन्तर वन्दनीय हैं। एवं वेदान्त वाक्यों द्वारा वेद्य हैं, संसार रूप वृक्ष का बीजम्=अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं। यद्यपि बीज शब्द का उपादान कारण अर्थ होता है तथापि बीज शब्द की उभय उपहितविद्या कारण में लक्षणा है। क्योंकि वेदान्त दर्शन में परमात्मा को अभिन्न निमित्त उपादान कारण माना है।।१।।

अब ग्रन्थकार भगवन्निम्बार्काचार्य का मंगलाचरण करते हैं। आद्याचार्य (श्रीनिम्बार्काचार्य) के चरणकमल को नमस्कार करके एवं श्रीकृष्ण के चरण कमलों का स्मरण करके दशश्लोकी (वेदान्त कामधेनु की) लघुमंजूषिका टीका को करता हूँ इस टीका में यह कहीं हमने भी न मंजूषा

(वेदान्तरत्नमंजूषा) को ही संक्षेप से लिखा है। तो इसकी विलक्षणता क्या है? कहने का तात्पर्य यह है कि वेदान्तरत्न मंजूषा ग्रन्थ अत्यन्त विस्तृत है उसमें ब्रह्मसूत्र के गम्भीर विचारों को उद्धृत किया है। पूर्व मीमांसा की परिसंख्यादिविधियों का निरूपण है। एवं अनेक अनुमान एवं हेत्वाभासों का जटिल निरूपण है। जिससे ग्रन्थ के विषय को साधारण व्यक्ति के लिए समझना अत्यन्त कठिन है। ग्रन्थकार ने उन जटिल विषयों का परित्याग कर मूल अर्थ के बोधन कराने का स्तुत्य प्रयास किया है।।३।।

इह खलु निखिलचेतनाचेतनात्मकानन्तकोटिब्रह्माण्डोद्भवस्थिति-लयलीलस्यानन्ताचिन्त्यापरिमितनिरवधिकातिशयस्वरूपगुणशक्तिकस्य केशशेषाद्यमरनिकराधीशावतंसरत्ननिकरदीधितिनीराजिताङ्घ्रियुगल-नखज्योत्स्नाभिहतनिजजनान्तःकरणाज्ञानतिमिरस्य निजमायाकृताप्त-बन्धनात्मविमुखविश्वजीवोद्दिधीर्षोर्भगवतो महाविभूतिपतेः पुरुषोत्तम-स्यायुधप्रवरोऽगणितानन्तकोटिप्रचण्डचण्डांशुसमप्रकाशः सुदर्शनो जगदुद्दिधीर्षया भगवदाज्ञयाऽवनितले तैलंगदेशे द्विजवररूपेणावतीर्य्य तत्र नियमानन्दनिम्बादित्यनिम्बार्केत्यादिनामभिर्विख्यातो भूत्वा ततः श्रीमद्धंस्वरूपनारायणशिष्याच्चतुःसनाल्लब्धदीक्षान्नारदात्संप्राप्ताष्टादशाक्षर-मन्त्रराजस्तथोक्तं विष्णुयामले--

> नारायणमुखाम्भोजान्मन्त्रस्त्वष्टादशाक्षरः ।
> आविर्भूतः कुमारैस्तु गृहीत्वा नारदाय च ।।
> उपदिष्टः स्वशिष्याय निम्बार्काय च तेन तु।
> एवं परम्पराप्राप्तो मन्त्रस्त्वष्टादशाक्षरः ।।

इतिप्रामाण्यात्सत्संप्रदायप्रवर्त्तकः सर्वाद्याचार्यः श्रीनियमानन्दो दशश्लोकीं निर्ममे। तस्या व्याख्या तु पूर्वाचार्य्यैर्विस्तरतः कृताऽपि मया मन्दमतीनां बुद्धिप्रवेशार्थं तेषु तेषु तत्तदर्थमादाय मिताक्षरैः क्रियते हरिगुर्वनुग्रहकामेन।

तत्र विवरणभूतायां वेदान्तरत्नमंजूषायां कोष्ठचतुष्टयं कथितं तदत्रापि ज्ञेयं तथाहि--

> तत्त्वत्रयं प्रथमके वाक्यार्थं च द्वितीयके।
> तृतीये साधनं प्रोक्तं फलं कोष्ठे चतुर्थके।।

तत्र तावच्चेतनाचेतनब्रह्मेति भेदेन पदार्थत्रयाणां मध्ये त्वंपदवाच्यानां प्रत्यगात्मनां स्वरूपं स्वयं निरूपयति ज्ञानस्वरूप-ञ्चेत्यादिना।

इह-इस जगत् में (खलु) निश्चित, सम्पूर्ण चेतन=प्राणयुक्त अचेतन=जड़ात्मक अनन्तकोटिब्रह्माण्ड की उत्पत्ति स्थिति लय है लीला जिसकी-अनन्त-अन्तशून्य-अचिन्त्य-चिन्तन का अविषय, अपरिमित-पारावार शून्य एवं अवधिरहित अतिशय स्वरूप गुण एवं शक्ति है जिसकी ब्रह्माशिवशेषादि जो सम्पूर्ण देवताओं के स्वामी हैं उनके किरीट में विराजमान रत्न समूह का प्रकाश उससे जिनके चरण युगल पूजित हैं चरणयुगल में विराजमान नखमणि चन्द्रिका से भक्तजनों के हृदय में विराजमान अज्ञान तिमिर नाश करने वाले, अपनी माया के द्वारा बन्धन प्राप्त जो भगवद् विमुख जीवगण, उनके उद्धार की इच्छा वाले महाविभूति अधिपति भगवान् पुरुषोत्तम के आयुधप्रवर=शस्त्रप्रवर-अनन्तकोटि प्रचण्ड-तीक्ष्ण किरणों वाले सूर्य के समान प्रकाश वाले सुदर्शन भगवान् जगद् उद्धार के इच्छा से भगवद् आज्ञा से पृथिवी मण्डल में, तैलंग देश में विप्रवर्य रूप में जब अवतीर्ण हुये उनके नियमानन्द निम्बादित्य-निम्बार्क इत्यादि नामों से सुप्रसिद्धि हुई-उनने हंसस्वरूप-नारायण के शिष्य सनकादिगण, उनके शिष्य श्रीनारदजी महाराज से अष्टादशाक्षर (गोपालमन्त्रराज) की दीक्षा प्राप्त की।

इस प्रसङ्ग को विष्णुयामल (तन्त्र) में कहा है।

नारायण के मुख कमल से-अष्टादशाक्षर (गोपालमन्त्र) प्रकट हुआ-सनकादिकों ने उसको ग्रहण किया-सनकादिकों से नारदजी ने ग्रहण किया, नारदजी ने अपने शिष्य निम्बार्क को इसका उपदेश दिया । इस प्रकार से मन्त्रराज परम्परा को प्राप्त हुआ। इस प्रमाण से सत् सम्प्रदाय के प्रवर्तक सर्वादि आचार्य श्रीनियमानन्द हुये। उनने दशश्लोकी की रचना की उस दशश्लोकी की व्याख्या पूर्वाचार्यों ने विस्तार से की भी है, तथापि हरि गुण के कृपा की कामना वाले हम स्वल्पबुद्धि वाले लोगों की बुद्धि के प्रवेश के लिये, पूर्व व्याख्यायों से तेषु तेषु=उन उन प्रकरणों में उनके भावार्थ को लेकर संक्षिप्त व्याख्या करते हैं। दशश्लोकी की विवरण रूप वेदान्तरत्न

मंजूषा में कोष्ठ चतुष्टय का निरूपण है उसको यहाँ भी समझ लेना–तथाहि प्रथम कोष्ठ के (तत्त्व त्रयम्) चेतनाचेतन ब्रह्म इसका तत्त्वत्रय में निरूपण है। दूसरे में वाक्यार्थ का, तीसरे में साधन का कथन है। चौथे में फल का निरूपण है, अर्थात् जैसे ब्रह्मसूत्र में समन्वय, अविरोध, साधन एवं फल का निरूपण है उसी प्रकार दशश्लोकी में भी समझ लेना चाहिये। तत्र=दशश्लोकी में चेतनाचेतन ब्रह्म इस भेद से पदार्थत्रय के मध्य में त्वंपद के वाच्य प्रत्यगात्माओं के (जीवों के) स्वरूप का स्वयं निरूपण करते हैं। (ज्ञानस्वरूपञ्चेत्यादिना)

ज्ञानस्वरूपञ्च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः।।१।।

जीव अनन्त (असंख्य) हैं। वे ज्ञान (प्रकाश) स्वरूप और ज्ञानवान् भी हैं। शरीरों के साथ संयोग–वियोग होना ही उनका जन्म–मरण है। वे अणु (अत्यन्त सूक्ष्म) हैं और प्रत्येक देह में भिन्न–भिन्न हैं। सदा–सर्वदा हरि के अधीन रहते हैं।।१।।

यच्छब्दस्य सर्वैर्विशेषणैः सह सम्बन्धः। जीवमिति विशेष्यं पदम्। एवंभूतं जीवं जीवात्मानम् आहुः श्रुत्यादय इति शेषः। कीदृशमित्यपेक्षायामाह ज्ञानस्वरूपमिति। यद्यस्माद्धेतोः ज्ञानं चेतनं स्वरूपं यस्य स तं स्वयंज्योतिस्वरूपमात्मानं "यथा सैंधवघनोऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नो रसघन एव एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवात्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवती"त्यादयः श्रुतय आहुस्तस्माज्जडात्म-स्वरूपवादिनां तार्किकादीनां पक्षो न सम्भवति श्रुतिस्मृत्यादिप्रमाणहीने-नेतरानुमानाद्यप्रमाणत्वात्। चकारोऽहमर्थस्य संग्रहार्थः अहमर्थस्वरूप-मित्यर्थः।

नन्वहंकारस्य मायाकार्य्यत्वं प्रसिद्धमात्मा तद्रूपश्चेज्जडस्वरूप एव सिद्धः कथं तर्हि ज्ञानस्वरूपमिति भवद्भिः प्रतिपाद्यते इति चेन्न। मुक्तावस्थायामपि प्रकृतिसम्बन्धरहितानां वामदेवादीनामहमर्थश्रवण-त्वादात्मनामहमर्थस्वरूपत्वमेव न तु प्रकृतिकार्य्यरूपोऽहंकारः "अहं मनुरभवं सूर्य्यश्चेति" श्रुतेः, किञ्च परमेश्वरस्याप्यहमर्थत्वं श्रूयते श्रीमुखवचनेन "मामेकं शरणं व्रज, अहं त्वां सर्वपापेभ्य" इत्यादिसहस्रशो

वारंवाराभ्यासरूपेण जीवात्मनस्तु किमु वक्तव्यं विस्तरस्तु बृहन्मंजूषायां द्रष्टव्यः संदिग्धचित्तैः।

ननु जीवेशयोरुभयोरप्यहमर्थाभिन्नज्ञानस्वरूपत्वं चेत्तर्हि तयोर्विशेषाभावाज्जीव एवेश्वर इति कथं न वदसीत्याशंकायां स्वतन्त्र-परतन्त्ररूपं विशेषमाह हरेरधीनमिति। यस्मात् हरेः पुरुषोत्तमस्य वासुदेव-स्याधीनमायत्तं सर्वदिशकालवस्तुविषयकज्ञानादौ सर्वकालस्वरूपस्थिति-प्रवृत्तिपूर्वककर्मप्रवृत्त्यादौ च श्रीपुरुषोत्तमायत्तसत्ताकमित्यर्थः। पुरुषो-त्तमस्तु स्वतन्त्रसत्ताक एव तस्मात्तयोर्महांतो विशेषाः सन्त्येवातो हरौ नातिप्रसङ्ग इत्यर्थः। ''यदासीत्तदधीनमासीदि''त्यादिश्रुतेः।

नन्वीश्वराधीनत्वादीश्वरेऽतिव्याप्तिर्मास्तु किन्त्वचेतनेऽस्त्येव तस्यापि परतन्त्रत्वसाम्यादिति चेत्तत्राह शरीरसंयोगवियोगयोग्यमिति। शरीरशब्देनोपलक्षितानां बाह्याभ्यन्तरकरणप्राणादीनां कार्य्यकारणाभेदे-नानादिकर्मात्मिकाविद्याप्रकृत्यादीनां च संयोगस्य वियोगस्तस्य योग्योऽर्हस्तं यस्मादेतेभ्यः सर्वेभ्यः स्वरूपेण पृथग्भवितुं योग्यो भवति तस्मात्परतन्त्रसाम्येऽप्यचेतनात्पृथग्भवनरूपविशेषगुणाश्रयत्वादात्मनो नाचेतनस्वरूपत्वमित्यर्थः। इत्यनेनाऽस्य हरिगुरुकृपयानादिकर्मात्मि-कामविद्यामपहाय मोक्षभक्तिस्वरूपकत्वं सूचितम्।

नन्वचेतनेऽतिप्रसङ्गो मास्तु किन्त्वात्मनां विभुरूपत्वमस्त्येव श्रुतिसूत्रादिप्रमाणात् तथात्वे च कालाकाशेश्वरादिष्वतिव्याप्तिः स्यादिति चेत्तत्राह अणुमिति। यस्मात् अणुं अणुपरिमाणकं जीवात्मानं श्रुत्यादयो वदन्ति तस्माद्विभुवादो नोपपद्यते तथा च ''अणुरयमात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश अणुर्ह्येष आत्मा यं वा एते सिनीतः पुण्यं पापं।

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।।

इत्यादिश्रुतिभ्यः। उत्क्रान्तिगत्यागतीनां नाणुस्तच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् तद्गुणसारत्वात्तव्द्यपदेशः प्राज्ञवदित्यादिन्यायाच्च। ननु यथैकः सर्षपकणो मेरोः स्वल्पैकदेशमेव व्याप्नोति न समग्रं तथात्मापि कुञ्जरादिपिपीलिकापर्यन्तदेहस्यातिसूक्ष्मदेशमेव न तु सर्वमसम्भवादिति

चेन्न। स्वरूपस्याणुत्वेऽपि तस्य ज्ञानभूतधर्मस्य विभुत्वेन समग्रदेहव्याप्ति-त्वान्नासम्भवः गुणाद्वालोकवदिति न्यायात्,

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत! ।।

इतिदृष्टान्तोपपत्तिसहकृतभगवद्वचनाच्च। एतेनैव विभुप्रतिपादकं सर्ववाक्यमात्रमपि व्याख्यातम्। ननूपाधिभूताया बुद्धेरणुपरिमाणकत्वं प्रसिद्धं स्यात्तद्गुणेनैव तदुपहितानामात्मनामप्यणुत्वं स्यात् ''बुद्धेर्गुणेना-त्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः'' इत्यादिश्रुतेरात्मा विभुरेव नाणुरिति चेन्न। रजःपिहितदृष्टीनामेवं वक्तृणां तेषामस्य वाक्यस्यार्थज्ञाना-भावत्वात्, तथाहि बुद्धेरणुपरिमाणगुणेन च पुनः आत्मनः स्वस्याणुपरि-माणगुणेनोभयथाप्यवरोऽणुपरिमाणको हि यस्मादाराग्रमात्रोऽतिसूक्ष्मो-ऽतिसूक्ष्मदर्शिभिरेव दृष्ट इत्यस्यार्थः। हि शब्देन मध्यमपरिमाणवादिनां पक्षो व्यावर्त्यते।

नन्वात्मनो विभुत्वं तु मास्तु किन्त्वविद्याया एकरूपत्वात्तदवच्छिन्न आत्माप्येक एव सर्वेषु देहेष्विति चेत्तत्राह प्रतिदेहभिन्नमिति। देहं देहं प्रति भिन्नो यः सः प्रतिदेहभिन्नस्तं यस्माद्धेतोर्ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु चतुर्विधेषु शरीरेषु स्वरूपेण भिन्नं तस्मान्नैकस्वरूपमित्यर्थः यद्येवं न स्यादात्मा तर्ह्येकस्मिन्सुप्ते मूर्छिते मृते भयरोगादियुक्ते सति सर्वेषामपि प्रतीतिः स्यात्सा तु कस्यापि नास्त्येवैतेन सुखदुःखादिसांकर्य्यशङ्कापि दूरतो निरस्ता विशेषस्तु बृहन्मञ्जूषायां द्रष्टव्यः।

ननु ज्ञानस्वरूपादिप्रतिदेहभिन्नान्तैरेव विशेषणैर्नात्मस्वरूपलक्षस्य निर्दोषत्वं स्याद्यतोऽस्मन्मतप्रवेशेन दोषग्रस्तत्वात्, तथाहि-पारमार्थिक-प्रातिभासिकव्यावहारिकासु दशासु सतीषु अस्माकं सर्वकथनव्यापारः सम्भवत्येव परमार्थदशायां ज्ञानस्वरूपकथनं प्रातिभासिकव्यावहारिकयोश्च हरेरधीनत्वादिकथनमनवद्यमेव स्यादित्याशङ्क्य नित्यस्वाभाविकया-वदात्मवृत्तिधर्मभूतानेकज्ञानाद्याश्रयत्वेनात्मनो लक्षणस्य निर्दोषत्वमाह ज्ञातृत्ववन्तमिति। यस्माद्धेतोः ज्ञातृत्ववन्तं ज्ञानधर्माश्रयमात्मानमाहुस्त-स्मान्न मायावादिमतेऽतिव्याप्तिः, ''ते त्वात्मनो निर्धर्मकं स्वरूपं मन्यन्ते योऽयं वेद जिघ्रतीति स आत्मा कतम'' इत्युपक्रम्य ''पुरुष एव द्रष्टा

श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा विज्ञानात्मा पुरुषः विज्ञातारमरे केन विजानीयात् जानात्येवायं पुरुषः न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखतां सोत्तमः पुरुषो नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम् एवमेव परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायनाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति यद्वै पश्यन्न पश्यति नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् अविनाशी वा अरे आत्मा अनुच्छित्तिधर्मा'' इत्यादिश्रुतिभ्यो ज्ञात एवेति ''कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वादि'' त्यादिन्यायात्। ''एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ'' इति गीयमानाच्च कर्त्तृत्वभोक्तृत्वादीनामुपलक्षणं ज्ञातव्यम्।

ननु यथा जले जलं ज्योतिषि ज्योतिर्वा भिन्नं नावतिष्ठते तथात्मनि ज्योतिःस्वरूपे ज्योतिरपीति चेन्न। धर्मिधर्मयोरत्यन्तसाजात्यस्याभेदे नियामकाभावात्, किन्तु भेदाग्रहमात्र एव तयोर्ज्ञानत्त्वाविशेषत्वेऽपि धर्मित्वधर्मत्वावच्छेदेन विजातीयत्वाद्दृष्टान्तासिद्धिः द्युमणितत्प्रभयोस्तैजस्त्वसाम्येऽपि द्युमणित्वप्रभात्वावच्छिन्नतया धर्मिधर्मभावस्य दृष्टचरत्वान्नानुपपत्तिः। वस्तुतस्तु जले ज्योतिषि चात्यन्तसाजात्यं न साजात्येन भेदाग्रहेऽपि भेदस्य सत्त्वमेव सावयवद्रव्यत्वेनानुमानात्, अन्यथा घटादौ पार्थिवावयवानामप्यभेद इति कुतो नाशङ्केथाः तथाचात्र प्रयोगः जले निःक्षिप्तं जलं भिन्नत्वेनावस्थातुमर्हति सावयवद्रव्यत्वात् पार्थिवरजसिनिक्षिप्तपार्थिवरजोवत् तिलराशौ निक्षिप्ततिलवच्च। ननु

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।।

उपमासूर्यकादिति श्रुतिसूत्राभ्यामीश्वरस्य बुद्धौ यः प्रतिविम्बः तद्वृत्तौ यः स तु तज्ज्ञानभूत उक्तः कथं स्वाभाविकज्ञानादिधर्माशयो ज्ञानस्वरूपश्चोच्यते इति चेन्न। श्रुतिसूत्रयोरन्यार्थपरत्वेन प्रतिविम्बत्वासंभवात्, तथाहि यथा जले एक एव चंद्रः प्रतिविम्बात्मनातिष्ठत्यपि जलगतशीतार्द्रादिधर्मैर्न लिप्यते प्रत्युत स्वगतशीतप्रकाशादिधर्मैः शीतं प्रकाशञ्च करोति तथा एक एव भूतात्मा भूते व्यवस्थितः सन् एकधा बहुधा दृश्यते न तत्तद्गतजन्मजराज्वरमरणादिधर्मैर्लिप्यते प्रत्युत ज्ञानानन्दादिस्वधर्मैस्तं तं भूतं ज्ञानानन्दादियुक्तं करोतीतिश्रुत्यर्थः। एवंसूत्रस्याप्यर्थः। सूर्य्यकादिवत्सूर्य्यजलादिवत् भूतात्मनो भूतेषूपमा ज्ञेया। किञ्च

दुराग्रहेण तयोः प्रतिविम्बपरत्वमर्थं करोति चेत्तत्रापि न सम्भवत्येव यतो दृष्टान्तासिद्धिः स्यात् तथाहि सरूपसाकारादिधर्मविशिष्टयोः सूर्य्यचन्द्रयोः प्रतिबिंबसरूपादि विशिष्टजले सम्भवत्येव दार्ष्टान्ते तु निरूपनिर्विशेषादि-रूपयोर्विवोपाध्योः प्रतिविम्बः सर्वथैव न घटते एवमवच्छेदवादोऽपि नोपपद्यते यतोऽसद्रूपेणाविद्यान्तःकरणरूपेणोपाधिनाशु बुद्धनिर्विशेष-व्यापकस्य ब्रह्मणः आवरणासंभवात् सद्रव्याभ्यां मठघटाभ्यामाकाशस्या-वरणं तु संभवति दार्ष्टान्ते तु न घटतेऽतो दृष्टान्तसिद्धिः वादीन्द्रकरीन्द्रमुखे चपेटस्तु बृहद्रत्नमंजूषायां कंठीरवाचारैः पूर्वाचार्य्यैर्दृढतरः कृतोऽतोऽत्रो-परम्यते।

ननुं तथापीश्वरेतिप्रसङ्गस्तदवस्थ एव यतो भवन्मते ज्ञातृत्वादि-धर्माश्रयः ईश्वरोऽपि स्यादिति चेत्तत्राह अनन्तमिति। यस्माद्धेतोरनन्तं संख्यावच्छेदशून्यमसंख्यातस्वरूपं तस्मादेकस्वरूप ईश्वरे नातिव्याप्तिः स्यात्। ननु ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति'' श्रुतिरीशवरस्याप्यनन्तत्वं वदतीति कृत्वा पुनस्तत्रातिव्याप्तिः स्यादितिचेन्न, यत ईश्वरस्य तु स्वरूपस्येयत्ताव-च्छेदशून्यत्वं गुणशक्त्यादीनां च संख्याविच्छेदशून्यत्वं च श्रुतिर्वक्ति अतो नातिव्याप्तिशङ्कावकाशत्वं लक्षणस्येत्यर्थः।।१।।

यत् शब्द का सर्व विशेषणों के साथ सम्बन्ध है। जीवम्=यह विशेष्य वाचक पद है तात्पर्य यह है कि यत्-तत् का नित्य सम्बन्ध है। यत् ज्ञानस्वरूपम् तज्जीवम्। यत् हरेरधीनं तज्जीवम्। यत् शरीर संयोगवियोगयोग्यम् तज्जीवम्, यत् अणु (स्वरूपम् तज्जीवम्, यत् प्रतिदेहभिन्नं तज्जीवम्। यत् ज्ञातृत्ववन्तं तज्जीवम्-इस प्रकार अन्वय है। एवं भूतम्-इस प्रकार के स्वरूप को श्रुतियां जीव कहती हैं। जिस हेतु से ज्ञान चेतन ही है स्वरूप जिसका, उसको स्वयं ज्योति स्वरूप श्रुतियाँ कहती हैं। जैसे लवण का ढेला। ऐसे यह जीवात्मा भी प्रज्ञान स्वरूप है उसका अन्तर्बाह्य व्यवहार नहीं होता इत्यादि श्रुतियाँ जीव को ज्ञान स्वरूप ही कहती है। इसलिये जीवात्मा को जड स्वरूप मानने वाले नैयायिक-वैशेषिक आदि का मत समीचीन नहीं है। श्रुत्यादि प्रमाण रहित केवल अनुमानादि का प्रमाण न होने से-अर्थात् श्रुति सहकृत ही अनुमानादि को प्रमाण माना जाता है केवल को नहीं।

चकार अहमर्थ के संग्रह के लिये है-अहमर्थ स्वरूप का अर्थ है।

शङ्का–अहंकार को माया की कार्यता प्रसिद्ध है आत्मा अहंकार रूप होगा तो जड ही होगा आप उसको ज्ञान स्वरूप कैसे प्रतिपादन करते हैं कहने का सार यह है अन्तःकरण की संकल्प विकल्पात्मक वृत्ति से मन संज्ञा है निश्चय वृत्ति से बुद्धि संज्ञा है चिन्तन वृत्ति से चित्त संज्ञा है। एवं अहं वृत्ति से अहंकार संज्ञा है। उत्तर–मुक्तावस्था में भी–यहां प्रकृति का सम्बन्ध नहीं है–वामदेवादिकों में अहमर्थ का श्रवण होता। आत्मा की अहमर्थ स्वरूपता है–प्रकृति कार्य रूप अहंकार अहमर्थ का वाच्य नहीं है। मैं मनु हुआ सूर्य हुआ ऐसी श्रुति है।

किञ्च–परमेश्वर में भी अहमर्थ का श्रवण श्रीमुख से होता है। मेरी शरण में आओ मैं तुमको सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूंगा। इत्यादि हजारों वचनों में अहमर्थ का अभ्यास है। जब भगवान् में अहमर्थ का प्रयोग है तो जीव के विषय में क्या कहना है इसका विचार सन्देहयुक्त चित्त वालों को बृहन्मंजूषा में देखना चाहिये।

१–यदि केवल हरेरधीनम् मात्र लक्षण करेंगे तब तीनों अर्थात् प्राकृत, काल एवं अप्राकृत में अतिव्याप्ति होगी।

शंका–जीव एवं ईश्वर दोनों ही ज्ञानस्वरूप होने से अभिन्न है–दोनों का भेद न होने से जीव ही ईश्वर है ऐसा क्यों नहीं कहते ऐसी शंका होने पर–स्वतन्त्र, परतन्त्र स्वरूप भेद कहते हैं––हरेरधीनमिति जिस कारण से सर्वदेशकाल में वस्तु–विषयक ज्ञान में, सर्वकाल में स्वरूपस्थिति प्रवृत्ति पूर्वक कर्म प्रवृत्ति आदि में हरेः पुरुषोत्तम वासुदेव के अधीन जीव है। भगवान् पुरुषोत्तम तो स्वतन्त्र सत्ता वाले हैं अतः दोनों का महान भेद है इसलिये जीव के लक्षण की ईश्वर में अतिव्याप्ति नहीं है श्रुति कहती है–जो है वह उसके अधीन है।

शङ्का––जीव को ईश्वराधीन होने से ईश्वर में अतिव्याप्ति न हो–किन्तु अचेतन में (अचिद् पदार्थ में) अतिव्याप्ति है क्योंकि उसमें भी परतन्त्रता जीव के समान है। कहने का तात्पर्य यह है अचित् पदार्थ के तीन भेद है। १–प्राकृत २–अप्राकृत ३–काल। प्रकृति तथा काल तो ज्ञान स्वरूप नहीं है किन्तु अप्राकृत–धामादि ज्ञानस्वरूप भी है एवम् भगवदधीन भी है? ''ज्ञानस्वरूपत्वेसति ज्ञानाश्रयत्वम्'' यह चिद् पदार्थ का लक्षण है धाम तत्त्व

ज्ञानधर्म का धर्म नहीं है अतः अचित् पदार्थ है। इस विषय के स्पष्टीकरण के लिये वर्तमान में प्रकाशित ''द्वैताद्वैत विवेक'' के तृतीय प्रकरण का अवलोकन करना चाहिये। यथा-अप्राकृतं तु-प्राकृत कालाभ्यां विलक्षणम्-अचिद् वस्तु-तस्यस्वरूप लक्षणं तु-स्वरूपतः सच्चिदानन्दरूपत्वे सति, धर्मतश्चैतन्य शून्यत्वम् (पृ० ४१)

समाधान--शरीर संयोगवियोगयोग्यम् इति। अर्थात् जीव, शरीर के संयोग एवं वियोग के योग्य है-अचित् पदार्थ वैसा नहीं है अतः अचित् पदार्थ धामादि में इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं।

शरीर शब्द यहां उपलक्षण है-बाह्यकरण प्राणादि का एवं आभ्यन्तर करण-अन्तःकरणादि का एवं कार्य कारण का अभेद होने से अनादि कर्मात्मका अविद्या एवं प्रकृति आदि के संयोग का वियोग, उसके योग्य है स्वरूप जिसका इस विशेषण से अचित्-पदार्थ से भिन्न है, पराधीनता समान होने पर भी अचेतन पृथक् स्वरूप विशेष गुण का आश्रय जीव होने से जीव अचेतन नहीं।

इससे यह भी सूचित होता है कि जीव हरि तथा गुरु की कृपा से अनादि कर्मात्मक अविद्या का परिहार करके भक्ति स्वरूपमुक्ति को प्राप्त करता है।

शङ्का--अचेतन में अतिव्याति न हो। श्रुति सूत्रादि प्रमाण से आत्मा विभु सिद्ध होता है। विभु होने से काल आकाश एवं ईश्वर में अति-व्याप्ति होगी क्योंकि वह विभु है ऐसी शंका होने पर कहते है--अणुमिति

जिस कारण से अणु स्वरूप वाला जीवात्मा है ऐसे श्रुति सूत्रादि कहते हैं इसलिये जीवात्मा का विभु होना सम्भव नहीं है यह आत्मा अणु है शुद्ध चित्त के द्वारा इसका ज्ञान होता है जिसमें पंच प्रकार के प्राण संनिविष्ट है। यह आत्मा अणु है जिसमें यह पुण्य तथा पाप रहते हैं। बाल के अग्रभाग को सौ प्रकार से विभक्त किया जाये उसके भाग के समान जीव है वह संख्या शून्य है इत्यादि श्रुतियाँ जीव को अणु परिमाण सिद्ध करती है।

अब आत्मा को अणु सिद्ध करने के लिये सूत्र प्रमाण उद्धृत करते हैं--उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्।२/३/१६। जीव का उत्क्रमणं, गमन एवं आगमन होता है-आत्मा को विभु मानने पर यह तीनों सम्भव नहीं है ''नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् २/३/२१।

जीवात्मा अणु नहीं है क्योंकि उसमें श्रुति प्रमाण न होने से। स वा एष महानजः'' यह श्रुति आत्मा को व्यापक सिद्ध करती है। यह पूर्व पक्ष सम्भव नहीं है क्योंकि उपक्रम में परमात्मा का प्रकरण होने से परमात्मा विभु है जीव नहीं। तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् २/३/२८।

यहां शंका होती है--श्रुति तथा स्मृति में जीव को विभु प्रतिपादन किया गया है । ''नित्यो विभु'' ''नित्यः सर्वगतः स्थाणुः'' आप कहते हैं जीव अणु है।

समाधान--सूत्र में तु शब्द शंका की निवृत्ति के लिये है-विभु के गुणों का सार होने से जीव के लिये विभु शब्द का प्रयोग है-प्राज्ञवत्=ब्रह्म की तरह।

जैसे ब्रह्म में बृहद् गुण होने से ब्रह्म शब्द का प्रयोग होता है।

सारांश यह है--ब्रह्म स्वरूप से भी विभु है एवं बृहद् गुण योग से भी विभु है जीव तो ज्ञान गुण के सम्बन्ध से विभु है स्वरूपतः अणु परिमाण परिमित है। यदि ऐसा न स्वीकार किया जाये तो पूर्वोक्तानेक वचनों का विरोध होगा।

शङ्का--''ननु'' जैसे सरसों का एक दाना सुमेरु पर्वत के एक देश में ही व्याप्त रहता है-समग्र पर्वत पर नहीं, वैसे आत्मा भी हस्ति आदिक चींटीं पर्यन्त देह के अति सूक्ष्म देश में ही रहेगा समग्र में नहीं (क्योंकि आत्मा अणु परिमाण परिमित है) समाधान=आत्मा के स्वरूप के अणु होने पर भी-उसके ज्ञानरूप धर्म के विभु होने पर-वह समग्र देह में व्याप्त रहता है अतः सुख दुःख के मान का असंभव नहीं। ब्रह्मसूत्र २/३/२५ गुणा द्वा अलोकवत्'' भगवान् श्रीनिम्बार्क इस सूत्र की व्याख्या करते हैं ''देहे प्रकाशो जीवगुणादेव काष्ठे दीपालोकवत्'' अर्थात् जैसे एक देश स्थित दीपक का प्रकाश-कोष्ठे-किसी भाग में देखा जाता वैसे देह में प्रकाश जीव के ज्ञान से होता है, श्रीभगवत्पाद श्रीनिवासाचार्यजी ने ''लोकवत्'' ऐसा भी पाठ स्वीकार किया है जैसे लोक मणि के एक देश में होने पर भी प्रकाश अधिक देश वृत्ति होता है-द्रव्य से गुणाधिक देशवृत्ति होता है। ब्रह्मसूत्र में व्यतिरेको गन्धवत् तथाहि-दर्शयति-२-३/२६ व्यतिरेकः अधिक देशवृत्तित्वम्-अर्थात् गुण की अधिक देश वृत्तिता है-पुष्प अन्य स्थान में है उसकी गन्ध अधिक

देशवृत्ति है। एवं सूत्रकार-अविरोधश्चन्दनवत्-२/३/२३। इसका विशेष स्पष्टीकरण किया है। इस सूत्र की वृत्ति में भगवान् निम्बार्काचार्यचरण लिखते हैं-''देहैकदेशस्थोऽपि कृत्स्नं देहं-चन्दनबिन्दुर्यथाऽह्लादयति, तथा जीवोऽपि प्रकाशति अत कृत्स्नं शरीरे सुखाद्यनुभवो न विरुध्यते।''

जैसे देह के एक देश में विराजमान चन्दन बिन्दु सकल शरीर में शीतलता प्रदान करता है वैसे जीव भी एक देशस्थ, ज्ञान के द्वारा सुखादि का अनुभव करता है। इसी बात को दृष्टान्त एवं युति सहकृत गीता वचन भी सिद्ध करता है-जैसे सूर्यनारायण एक देश में रहकर प्रभामण्डल से सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करते हैं वैसे-क्षेत्री-जीवात्मा देह के एक देश में रहकर ज्ञान गुण से सम्पूर्ण देह के सुखादि को प्रकाशित करता है। इससे विभु प्रतिपाद्य वाक्य मात्र भी व्याख्यात हो गया (अर्थात् यहाँ आत्मा के लिये विभु शब्द का प्रयोग हो वहाँ ज्ञान गुण से विभु समझ लेना चाहिये।

शङ्का--जीव की उपाधि बुद्धि अणु परिमाण वाली प्रसिद्ध है-बुद्धि के अणु परिमाण की प्रतीति उपहित आत्मा में होती है आत्मा अणु परिमाण वाला नहीं है-इस बात को ''बुद्धेर्गुणेन''इत्यादि श्रुति वाक्य भी सिद्ध करता है। समाधान-जैसे धूलि धूसरित नेत्र वाले को वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं होता वैसे रजोगुण से जिनकी बुद्धि विक्षिप्त हो गंई है ऐसे कहने वालों को इस श्रुति के वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं होता। इसका अर्थ इस प्रकार है तथाहि-बुद्धि के अणु परिमाण गुण से एवं आत्मा के अपने अणु परिमाण गुण से। दोनों प्रकार से-अवरः=जीव अणु परिमाण वाला है। जिस कारण से आरा के अग्रभाग के समान अति सूक्ष्म आत्मा है ऐसा सूक्ष्म दर्शियों ने साक्षात्कार किया है (इस श्रुति का ऐसा अर्थ है) हि शब्द के द्वारा मध्यम परिमाणवादियों (जैनों के मत का निरास समझ लेना चाहिये।

शंका--आत्मा विभु न हो किन्तु अविद्या से एकरूपत्वावच्छिन्न आत्मा भी एक ही सर्व शरीरों में रहे?

समाधान--प्रतिदेहभिन्नमिति-देह देह के प्रति, भिन्न जो रहे वह प्रतिदेहभिन्न है। जिस हेतु ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त चतुर्विध शरीरों में भिन्न है अतः एकरूप नहीं है। यदि ऐसा आत्मा को नहीं माना जाये तो एक के सो जाने से सभी सो गये ऐसी प्रतीति होनी चाहिये, एक के मूर्छित एवं

मृत हो जाने, अथवा रोगयुक्त हो जाने पर-सभी को वैसी प्रतीति होनी चाहिये, किन्तु ऐसी प्रतीति तो किसी को होती नहीं, इससे सुख दुःखादि सांकर्य्य शंका भी निरस्त हो गई। इसका विशेष विचार भी पुरुषोत्तमाचार्य कृत वेदान्तरत्नमञ्जूषा में देखना चाहिये।

शङ्का--ज्ञानस्वरूपं प्रतिदेहभिन्नम् इत्यादि विशेषणों से आत्मा का लक्षण निर्दुष्ट नहीं है क्योंकि हमारे (मायावादी के) मत में प्रवेश होने से उक्त लक्षण दोषग्रस्त है। इसका उपपादन करते हैं-हमारे मत में आत्मा की तीन दशा है-१-पारमार्थिक २-व्यावहारिक एवं ३-प्रातिभासिक। आत्मा पारमार्थिक दशा में ज्ञानस्वरूप है, व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक दशा में भगवदधीन है अतः हमारे मत में लक्षण निर्दुष्ट होने से आपके सिद्धान्त में प्रवेश हो गया।

समाधान--हमारे नित्य स्वाभाविक यावद् आत्मवृत्तिधर्मभूता नेकज्ञानाश्रयत्व है। अतः हमारे मत में लक्षण निर्दोष है-ज्ञातृत्ववन्तमिति जिस कारण से-ज्ञातृत्ववन्तम्-ज्ञान धर्म का आश्रय आत्मा को कहा जाता है उस हेतु से मायावादी के मत में अतिव्याप्ति नहीं है-मायावादी तो आत्मा को निर्धर्मिक मानते हैं। इसमें श्रुति प्रमाण देते है। जो यह जानता है सूंघता है वह आत्मा कौन है। ऐसा उपक्रम करके पुरुष ही द्रष्टा श्रोता रस लेने वाला, सूंघने वाला मन्ता (मननकर्ता) जानने वाला विज्ञानात्मा पुरुष है। विज्ञाता को किससे जाना जाये यह पुरुष ही जानता है वह जीव मृत्यु को नहीं देखता, रोग के दर्शन नहीं करता एवं दुःख के दर्शन नहीं करता, वह उत्तम पुरुष इस शरीर का स्मरण करता हुआ जन्म का दर्शन नहीं करता। एवं पारदृष्टा की यह षोडश कला है पुरुष के आश्रित है पुरुष को प्राप्त करके अस्त हो जाती है जो जीव को नहीं देखता, द्रष्टा की दृष्टि का विपरिलोप नहीं होता अविनाशी होने से यह आत्मा अविनाशी है इसके धर्म भी नित्य है इत्यादि श्रुतियों से आत्मरत्ता स्वरूप एवं ज्ञातृत्व धर्म वाला सिद्ध होता है। अब इसी बात की सिद्धि के लिये सूत्रों को प्रमाण रूप में उद्धृत करते हैं। ज्ञोऽत एव-२/३/१९। अतएव-आत्मा को नित्य होने से आत्मा ज्ञाता है अर्थात्-ज्ञान स्वरूपत्वे सति, ज्ञातृत्व-वत्वम् है। कर्त्ता शास्त्रार्थ वत्वात्।२/३/३२। इस सूत्र का विवरण आचार्यपाद (भगवान् निम्बार्ककृत) आस्वादनीय है

यथा-आत्मैव कर्त्ता स्वर्ग कामो यजेत, मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत'' इत्यादि मुक्ति मुक्त्युपायबोधकस्यशास्त्रस्यार्थवत्त्वात्-स्वर्गरूप फल के उदेश्य से याग साधन का विधान एवं मोक्ष रूप फल के उदेश्य से निष्काम ब्रह्म उपासना रूप साधना का विधान है साधन कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व के सामानाधिकरणत्व का नियम होने से पुरुष ही कर्त्ता है। यद्यपि-

श्राद्धकर्तृत्व पुत्र निष्ठ है एवं भोक्तृत्व पितृनिष्ठ है। अतः उक्त नियम व्यभिचरित प्रतीत होता है तथापि इस कर्म का फल मेरे पिता को मिले ऐसी पुत्र की इच्छा ही उक्त स्थल में नियामक है। वस्तुतः आत्मा वै जायते पुत्रः, इस श्रुति से पिता पुत्र का अभेद होने से कर्तृत्व भी पितृनिष्ठ है अतः कोई दोष नहीं। इत्यादि सूत्रों से आत्मा में ज्ञातृत्व धर्म की सिद्धि होती है।

अब उक्तार्थ में गीता को प्रमाण रूप से उद्धृत करते हैं। इस क्षेत्र को जो जानता है उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं। वेदान्त कामधेनु के प्रथम श्लोक में ज्ञातृत्ववन्तम्'' कर्तृत्वभोक्तृत्व का उपलक्षण है। जानना चाहिये। स्वबोध-कत्वेसति-स्वेतरबोधकत्वम्-उपलक्षणत्वम्।

अब पुनः मायावादी की ओर से शंका करते हैं ''ननुयथा जले'' इत्यादि। जैसे जल का जल से भेद नहीं-अग्नि का अग्नि से भेद नहीं, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा से ज्ञातृत्व धर्म का भेद नहीं है। इस शंका का तात्पर्य यह है आप ज्ञानस्वरूप आत्मा में ज्ञातृत्व धर्म को स्वीकार करते हैं वह सम्भव नहीं क्योंकि ज्ञानस्वरूप आत्मा को अधिकरण मानकर ज्ञातृत्व धर्म को आधेय मानना होगा। ज्ञातृत्व शब्द में-ज्ञा ज्ञानार्थक धातु है तृच् प्रत्यय कर्ता में हुआ है उससे आगे तद्धित त्व प्रत्यय है जिसका प्रकारार्थ है। ज्ञातृत्व का अर्थ ज्ञान है। ज्ञानस्वरूप आत्मा भी ज्ञान है ज्ञानत्व धर्म दोनों में रहने से अभेद है। अभेद में आधाराधेय भाव सम्भव नहीं है अतः चेतन प्रतिबिम्बत बुद्धि में ज्ञातृत्व स्वीकार करना चाहिये आत्मा को निर्धर्मिक मानना चाहिये।

समाधान--धर्मी तथा धर्म का अत्यन्त साजात्य अभेद का नियामक न हो अपितु-भेदग्रह का नियामक है। समाधान करने वाले का तात्पर्य यह है धर्मी तथा धर्म का अत्यन्त साजात्य अभेद को सिद्ध नहीं करता अपितु दोनों के भिन्न रहने पर भी भेद का ज्ञान नहीं होने देता-सांख्य दर्शन में कहा

है अष्ट दोष के कारण वस्तु के होने पर भी उसकी प्रतीति नहीं होती-साजात्य (सादृश्य) भी दोष है उसके रहने पर वस्तु की प्रतीति नहीं होती। ज्ञानस्वरूप आत्मा रूप धर्मी का एवं ज्ञातृत्व धर्म का ज्ञानत्वेन साजात्य है वह धर्मी तथा धर्म की भिन्नत्वेन प्रतीति नहीं होने देता इससे दोनों अभिन्न है ऐसा नहीं समझना चाहिये। वस्तु का यथार्थ ज्ञान ही पदार्थ को सिद्ध करता है अज्ञान नहीं। उन दोनों में ज्ञानत्व सामान्य होने पर भी धर्मित्व एवं धर्मत्वावच्छेदेन विजातीयत्व होने से आधाराधेय-भाव सम्भव है। धर्मितावच्छिन्न स्वरूप भूत ज्ञान एवं धर्मतावच्छिन्न ज्ञान, गुणरूप ज्ञान अर्थात् ज्ञातृत्व धर्म रूप ज्ञान। पूर्वोक्त जल एवं तेज का दृष्टान्त असिद्ध है-जल का जल से जलत्वेनाभेद होने पर भी-धर्मित्वेन एवं धर्मत्वेन भेद है उसी प्रकार तेज का तेजस्त्वेनाभेद होने पर भी पर भी धर्मित्व एवं धर्मत्वेन भेद है। इसी बात को सिद्ध करने के लिये सूर्य तथा प्रभा का दृष्टान्त देते है-जैसे सूर्य एवं प्रभा में तेजस्त्व धर्म समान होने पर भी-द्युमणित्व एवं प्रभात्व धर्म के भिन्न होने से आधराधेय भाव सम्भव है वैसे ही आत्मा तथा ज्ञातृत्व में, धर्मिता तथा धर्मता के भिन्न होने पर आधाराधेय भाव सम्भव है।

नन्वेवमात्मनः स्वरूपगुणादिकं चेत्तर्हि सः कथं नानुभूयते सर्वजनैरित्येवं शङ्कां परिहरन् विशिनष्टि अनादीत्यादिना-

शङ्का--आत्मा के इस प्रकार के स्वरूपगुणादिक यदि हैं-तब वह सर्व प्राणियों के अनुभव का विषय क्यों नहीं बनता-इस प्रकार की शंका का परिहार करते हुये, आत्मा को विशेषणों से युक्त करते हैं। अनादि इत्यादि से।

अनादिमायापरियुक्तरूपं त्वेनं विदुर्वै भगवत्प्रसादात्।
मुक्तञ्च भक्तं किल बद्धमुक्तं प्रभेदबाहुल्यमथापि बोध्यम्।।२।।

अनादि माया ने जीव के ज्ञान को संकुचित कर दिया है। भगवान् के अनुग्रह से जीवों को अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। १-मुक्त २-भक्त एवं बद्ध मुक्त भेद से जीव तीन प्रकार के हैं। इनका और भी बहुत भेद समझ लेना चाहिये।।२।।

अनाद्याअघटनघटनापटीयस्या गुणमय्या मायया प्रकृत्या परियुक्तं परिवेष्टितं रूपं यस्य तं श्रीपुरुषोत्तमात्पराङ्मुखत्वेनानादिमायया

संकुचितधर्मभूतज्ञानमित्यर्थः। नन्वेवं चेत्तज्ज्ञानं न स्यादथ च विविदिषाया-स्तत्प्रतिपादकशास्त्राणां च वैय्यर्थ्यापत्तेरिति चेत्तत्राह त्वेनमिति। तुशब्दः शङ्कानिरासार्थकः वै निश्चयार्थकः एवं शास्त्रप्रमाणसिद्धं प्रत्यगात्मानं भगवत्प्रसादात् श्रीपुरुषोत्तमानुग्रहात् विदुः जानन्ति, के श्रीभगवदीया-नादिसंप्रदायानुयायिनः नान्ये--

तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः।

इत्यादिश्रुतेः। एवं जीवात्मस्वरूपादिकं तज्ज्ञानाज्ञानकारणं च प्रतिपाद्येदानीमात्मा कतिविधः स इत्यपेक्षायामाह-मुक्तश्चेत्यादिना। किलेति निश्चयेन मुक्तं च पुनः भक्तं अथापि बद्धमुक्तं प्रभेदबाहुल्यं बोध्यमित्यन्वयः। तत्र मुक्तास्तावद्द्विविधाः नित्यमुक्ताः मुक्ताश्चेति। तत्र गर्भजन्मजरामरणादिप्रकृतिसम्बन्धतत्कार्य्यविषयकानुभवशून्यत्वे सति नित्यभगवदीयदर्शनादिभजनानुभवानन्दैकरसाः नित्यमुक्ताः ''सदा पश्यन्ति सूरय'' इत्यादिवचनात्। तेऽपि द्विविधाः आनंतर्य्याः पार्षदाश्च तत्रानंतर्य्याः किरीटकुण्डलवंश्यादयः पार्षदाश्च गरुडविष्वक्सेनादयः। मुक्ता नाम अनादिकर्माऽत्मिकाविद्यानिरूपितप्रकृतिसम्बन्धतत्कार्य्य-दुःखादिविनिर्मुक्ताः। तेऽपि द्विविधाः एके भगवद्भावापत्तिलक्षणमुक्तिमन्तः।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।।

मम साधर्म्यमागता।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।।

इति भगवद्वचनात्। अन्ये स्वस्वरूपानन्दापत्तिमात्रेण सन्तुष्टाः। चकाराद्बद्धा। अनादिकर्मवासनाकार्य्यभूतदेवतिर्य्यगाद्यनेकविधशरीरेषु तत्सम्बन्धिषु चात्मत्वात्मीयत्वाभिमानदार्ढ्यवंतस्त एव बुभुक्षुशब्दे-नाभिधेयाः। वैषयिकभोगमिच्छवः। तेऽपि द्विविधाः बद्धाः नित्यबद्धाश्च भाविश्रेयस्काः। बद्धाः नित्यसंसारिणश्च नित्यबद्धाः भक्तं भजनार्हमुमुक्षुं स्वाभाविकापरिच्छिन्नध्येयाकारेन्द्रियवत्तिमत्तया भजनशीलत्वाद्भक्तशब्दो मुमुक्षुवाचकः। आध्यात्म्यादिविविधसांसारिकदुःखानुभवजातक्लेशात् विरक्ता सन्तः संसारान्मोक्षमिच्छवो मुमुक्षवः। तेऽपि द्विविधाः श्रीभगव-द्भावापत्तिमुक्तिकामाः स्वस्वरूपापत्तिकामाश्च। यद्यपि बद्धमुक्तेतिभेदेना-त्मनो द्विविधत्वमेव सिद्धं तथापि प्रभेदबाहुल्यं प्रकृष्टेन भेद प्रभेदस्तेन

बाहुल्यं बहुप्रकारकं मुक्तनित्यमुक्तबद्धनित्यबद्धमुमुक्षिवत्यादिरूपकं बोध्यम्। वैष्णवैरिति शेषः। इति त्वंपदार्थसंग्रहः।।२।।

अनादि (उत्पत्ति रहित) एवं असंभव के संभव बनाने में निपुण त्रिगुणात्मका प्रकृति ने संकुचित किया है स्वरूप जिसका उसको पुरुषोत्तम से विमुख होने से माया ने जीव के धर्मभूत ज्ञान को संकुचित कर दिया है।

शङ्का-यदि ऐसा है तो उसका ज्ञान भी नहीं होगा तब ज्ञानेच्छा व्यर्थ हो जायेगी एवं उस ज्ञानेच्छा के प्रतिपादक शास्त्र भी व्यर्थ हो जायेंगे इस शङ्का की निवृत्ति के लिये कहते हैं-(त्वेनं विदुः) तु शब्द का प्रयोग पूर्वोक्त शङ्का की निवृत्ति के लिये किया है। वै-शब्द निश्चय वाचक है।

इस प्रकार शास्त्र प्रमाण सिद्ध प्रत्यगात्म को भगवदनुग्रह से भगवदीय अनादि संप्रदाय के अनुयायी लोग जानते हैं सम्प्रदाय रहित लोगों को उसका ज्ञान नहीं होता (अतः सम्प्रदाय परम्परा से युक्त होना चाहिये)।

इसी बात को श्रुति कहती है--विधाता की कृपा से परमात्मा की महिमा को जानकर संकल्प रहित भगवत् तत्त्व का साक्षात्कार कर जीव शोक रहित हो जाता है।

इस प्रकार जीव के स्वरूपादिक का एवं उसके ज्ञान एवं अज्ञान के कारण का प्रतिपादन करके अब आत्मा कितने प्रकार का है इस आकांक्षा के शमनार्थ कहते हैं--"मुक्तं चेत्यादिना" किल=निश्चय रूप से मुक्त, भक्त, एवं बद्धमुक्त इत्यादि जीवों के अनेक भेद समझ लेने चाहिये। मुक्त दो प्रकार के हैं। १-नित्यमुक्त एवं २-मुक्त। नित्यमुक्त वह है=प्रकृति के सम्बन्ध एवं प्रकृति के कार्य-गर्भ, जन्म जरा मरणादि के दुःख के अनुभव से शून्य, एवं भगवदीय दर्शनादि भजनानुभवानन्द की एकरसानुभूति वाले। इसमें श्रुति प्रमाण है "विद्वान् लोग सदा आनन्द की अनुभूति करते हैं। वह नित्यमुक्त भी दो प्रकार के हैं--आनन्तर्य एवं पार्षद। उनमें किरीट कुण्डल वंशी आदि का आनन्तर्य है। गरुड विष्वक्सेनादि पार्षद हैं। अनादि कर्मात्मक अविद्या से सिद्ध प्रकृति के सम्बन्ध एवं प्रकृति कार्य दुःखादि से मुक्तों का नाम मुक्त है वह भी दो प्रकार के हैं। एक भगवद्भावापत्ति लक्षण मुक्ति वाले हैं। वह जो ज्ञान तपसा पूत एवं मदभावमागता। ममसाधर्म्यमागता। इन गीता वचनों से सिद्ध है। जो सृष्टि में उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलय में व्यथित नहीं

होते हैं।

(२) दूसरे अपने स्वरूप प्राप्ति मात्र से सन्तुष्ट हैं।

श्लोकस्थ चकार से बद्ध जीवों का ग्रहण है-वह अनादि कर्म वासना कार्य भूत देवतिर्य्यगादि अनेक विध शरीरों में एवं उनके सम्बन्धियों में आत्मत्व आत्मीयत्व अभिमान के दृढवाले है वह बुभुक्षु शब्द के वाच्य एवं वैषयिक भोग के लिप्सु हैं वह भी दो प्रकार के हैं, बद्ध एवं नित्यबद्ध। जिनका आगे कल्याण होगा वह बद्ध है। जो नित्य संसारी है वह नित्यबद्ध है।

भक्त--भजन के योग्य मुमुक्षु है। स्वाभाविकी परिच्छेद रहित (व्यवधान रहित) ध्येयाकार इन्द्रियवृत्ति वाले होने से भजनशील होने से भक्त शब्द मुमुक्षु का वाचक है। आध्यात्म्यादि विविध प्रकार के सांसारिक दुःख की अनुभूति से उत्पन्न होने वाले क्लेश वाले होने से विरक्त होकर संसार से मुक्त चाहने वाले। वह भी दो प्रकार के है भगवद्भावापत्ति रुप मुक्ति की इच्छा वाले एवं स्वस्वरूपापत्ति मुक्ति की इच्छा वाले। यद्यपि-बद्धमुक्त इस प्रकार दो प्रकार का भेद ही उचित था तथापि ''प्रभेदबाहुल्यम्'' विशेष रूप से भेद का नाम प्रभेद है वह मुक्त नित्यमुक्त, बद्ध-नित्यबद्ध-मुमुक्षु इत्यादि रूप वैष्णवों को समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार से त्वं पदार्थ का निरूपण समाप्त हुआ।

''द्वितीय श्लोक का परिशिष्टांशः''लघु मंजूषाकार के लेख से द्वितीय श्लोक का स्पष्टीकरण नहीं होता अतः श्रीपुरुषोत्तमाचार्य भगवत्पाद के अनुसार विषय को स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता है। अनादि तथा अनन्त त्रिगुणात्मिक माया ने जीव के धर्मरूप ज्ञान को संकुचित कर दिया है। धर्मभूत ज्ञान का संकोच ही अविद्या है एवं उस ज्ञान का विकाश ही विद्या है। प्रकृति सभी के ज्ञान का संकोच क्यों नहीं करती इस शंका का समाधान यह है कि कर्मजन्य वासना जिस क्षेत्रज्ञ में विद्यमान रहती है वहां ही धर्मभूत ज्ञान का संकोच होता है अतएव महा उपनिषद् एवं विष्णु पुराण में अविद्या को कर्मात्मका कहा है। माया तो ज्ञान के संकोच में करण है प्रयोजक कर्त्ता तो भगवान् वासुदेव है ''बन्धको भव पाशेन भव पाशाच्चमोचकः कैवल्यदः परब्रह्म विष्णुरेव सनातनः'' १-आगे चलकर श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी

ने भगवान् के गुणों को भगवान् के समान व्यापक माना है।

जिस प्रकार घट के भीतर दीपक का प्रकाश संकुचित हो जाता है एवं घट का अपसरण करने पर दीप प्रकाश विकसित हो जाता है उसी प्रकार कर्मजन्यवासना से धर्मभूत ज्ञान संकुचित हो जाता है, भक्ति–प्रपत्ति आदिक साधनों से कर्म का प्रभाव समाप्त हो जाने से ज्ञान का विकास हो जाता है ज्ञान का विकास ही विद्या है। पूर्वोक्त अविद्या की निवृत्ति एवं विद्या की प्राप्ति भगवदनुग्रह साध्य है। आचार्यचरण आज्ञा करते हैं--

त्वेनं विदुर्वै भगवत् प्रसादात्''

भगवदनुग्रह से जीव के स्वरूप का ज्ञान होता है।

शङ्का--१–भगवदनुग्रह अन्य साधन की अपेक्षा करता है। २– अथवा अन्य साधन निरपेक्ष है।

यदि प्रथम पक्ष स्वीकार करें तो भगवदनुग्रह की अप्रधानता होगी जो किसी की सहायता चाहता है वह प्रधान नहीं होता।

एवं इस पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष भी प्रसक्त होगा। भगवदनुग्रह से साधन में प्रवृत्ति होगी। एवं साधन होने पर ही भगवदनुग्रह होगा (बिना साधन से नहीं) यदि कहें भगवदनुग्रह अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता तब तो भगवदनुग्रह को सर्वत्र व्याप्त होने से सर्वमुक्ति प्रसङ्ग होगा।

समाधान--भगवदनुग्रह को निरपेक्ष होने पर भी भगवान् में नैर्घृण्य तथा वैषम्य दोष की निवृत्ति के लिये, एवं साधनान्तर प्रतिपादक शास्त्र की बाधा निवृत्ति के लिये साधनान्तर को व्याज (मिस) मात्र स्वीकार किया जाता है। ब्याज मात्र स्वीकार से भगवदनुग्रह को स्वतन्त्रता नष्ट नहीं होती श्रुति कहती है ''यमेवैषवृणुते तेन लभ्यः'' वह परमात्मा जिसका वरण करता है उसको प्राप्त होता। एवकार से ज्ञापित होता है जिसका वरण भगवान् नहीं करते उसको प्राप्त नहीं होते साधनान्तर तो व्याजमात्र हैं भगवान् अनुग्रहैक लभ्यः है अनुग्रह की अभिव्यक्ति दैन्यादि युक्त अन्तःकरण में होती है। आचार्य चरणाज्ञा करते हैं--''कृपास्यदैन्यायुजि प्रजायते''

(द्वितीय श्लोक का विचार समाप्त)

अथ चाचेतनं निरूप्यते।

अब अचेतन (अचिद) पदार्थ का निरूपण करते हैं।

अप्राकृतं प्राकृतरूपकं च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम्।
मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्र।।३।।

अप्राकृतम्-भगवद्धामादि अप्राकृत पदार्थ एवं प्राकृत (त्रिगुणात्मिका प्रकृति एवं तज्जन्य पदार्थ। एवं कालस्वरूप (काल) पदार्थ यह श्रुति में अचेतन स्वीकार किये हैं। प्राकृत पदार्थ का स्पष्टीकरण करते हैं। माया प्रधानादि पद का वाच्य प्राकृत पदार्थ है-तत्र उन समे-सभी में सत्त्वादिक भेद स्वीकार किये हैं।।३।।

अप्राकृतमित्यादिना तत् अचेतनं मतं श्रुतिभिरिति शेषः। इत्यन्वयः। ज्ञानादिधर्मानधिकरणत्वे सति अचेतनत्वं तत्त्रिविधं प्राकृताप्राकृतकालभेदात्। तत्र तवादप्राकृतमाह प्रकृतिकालाभ्यामत्यन्तविलक्षणं प्रकाशात्मकमनावरकस्वभावमचेतनद्रव्यमप्राकृतं स्यात् ''आदित्यवर्णं तमसः परस्तादि''त्यादिश्रुतेः। तमःशब्दाभिधेयाभ्यां प्रकृतिकालाभ्यां परो विलक्षणमादित्यवत्प्रकाशरूपमिति श्रुत्यर्थः। एतेन त्रिगुणात्मकद्रव्याभिन्नमपि शुद्धमायाकार्य्यमिति मतनिराशः कृत प्रकृतिमण्डलाद्भिन्नदेशं परिच्छिन्नवद्दृश्यमानमप्यपरिच्छिन्नं तत्तु विश्वरूपदर्शनेऽर्जुनेन दृष्टं आनन्दनित्यविभूतिपरमात्मलोकपरमपदादिशब्दाभिधेयं ''योऽस्याध्यक्षः परमव्योमन् तिष्ठति, तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। एते वै निरयास्तात लोकस्य परमात्मनः''। इत्यादि वचनेभ्यः। तच्च भगवदीयानादिसंकल्पात्तस्य तदीयानां नित्यमुक्तानां च भोग्यादिरूपेणानेकविधं तत्र भोग्यं भगवद्विग्रहादिभोगोपकरणं च भूषणायुधयानासनालङ्कारकुसुमपत्रफलादिस्थानं च गोपुरचत्वरप्राकारमणिमण्डपवनोपवनसरोवरादिकम्। तत्रेश्वरस्य नित्यमुक्तानां च विग्रहसंस्थानं च भगवदीयानाद्यनन्तेच्छा-सिद्धं स्वाभाविकमेव बद्धमुक्तानां त्वनादिसिद्धैर्विग्रहादिभिर्योगः। न त्वत्र जन्यत्वादिविकारशंकापि तस्य निर्विकारत्वात् यथोत्सवादिसमये प्राक्सिद्धा वस्त्रभूषणालङ्कारादयो राजभिः स्वभृत्येभ्यो दीयन्ते तथैव प्रकृतिवियोगसमये पूर्वसिद्धा नित्याः सर्वविकारशून्या विग्रहादयस्तत्सेवोपकरणरूपाः श्रीपुरुषोत्तमेन दीयंते इति। श्रीविग्रहश्च स्वरूपवदनंतकल्याणगुणाश्रयः। गुणाश्च निरतिशयसौंदर्य्यसौगंध्यसौकुमार्यादयोऽपरिमिता अनन्ताश्च। ''सर्वगन्धः सर्व रसः आप्रणखात्सु-

वर्ण'' इत्यादिश्रुतिभ्यः श्रीभगवतः सर्वदर्शनगमनादिशक्तिमत्त्वान्न तत्रेन्द्रियादिविभागकल्पनापेक्षया गौरवात्। ''अपाणिपादो जवनो गृहीते''त्यादिश्रुतिभ्यः तत्साम्यंभजतामपि तथैव व्यवहारः ''निरंजनः परमं साम्यमुपैती''त्यादिश्रुतेः ''मम साधर्म्यमागता'' इत्यादिस्मृतेश्च। कालातीतवस्तुत्वान्न तत्र कालप्रभावः।

कलामुहूर्तादिमयश्च काला न यद्विभूतेः परिणामहेतुरिति ब्रह्मवचनात्।

अथ प्राकृतपदार्थमाह प्राकृतमिति। मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं मायाप्रधानादिशब्दैरभिधीयमानं प्राकृतं स्यात्। आदिशब्देन तमोऽव्यक्तादिसंग्रहः ''मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरं, प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः, अव्यक्तात्पुरुषः पर'' इत्यादिश्रुतिभ्यः। तदेव लक्षणमुखेन द्योतयति शुक्लादिभेदाश्चसमेपि तत्रेति। च पुनः तत्र तस्मिन्प्राकृतपदार्थे समेऽपि सर्वेऽपि शुक्लादिभेदाः। शुक्ललोहितकृष्णपदाभिधेयाः गुणा सन्ति गुणत्रयाश्रयत्वमित्यर्थः। ''अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णा''मित्यादिश्रुतेः। गुणाश्च सत्त्वरजस्तमांसि ''सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च। प्रमादमोहौ तमस'' इति लक्षितलक्षणभगवद्वचनात्।

सृष्टिक्रमश्च प्रथमं तावत्प्रलयावसाने सृष्टिसमये श्रीपुरुषोत्तमेक्षणक्षुभितगुणायाः स्वतंत्रसत्तायाः प्रकृतेरध्यवसायहेतुः सात्त्विकादिभेदात्त्रिविधो महानुत्पद्यते। ततो जीवानां देहादावात्मबुद्ध्युत्पादनासाधारणहेतुरहङ्कारः। सोऽपि सात्त्विकादिभेदात्त्रिविधः वैकारिकतैजसभूतादिसंज्ञकः तत्र वैकारिकादिन्द्रियाधिष्ठात्र्यो देवता मनश्च तदेव नो वृत्तिभेदात् स्थानभेदाच्चान्तस्करणचतुष्टयसंज्ञां लभते। तत्र मननादिहेतुत्वं मनस्त्वम्। इदमेव मनः शब्दादिसंबद्धं सद्बंधनहेतुः तत्परित्यागपूर्वकं सपरिकरभगवत्प्रावण्ये सति मोक्षहेतुः ''मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो''रिति वचनात्। बोधनहेतुत्वं बुद्धित्वं देहादावहङ्कारणहेतुत्वमहङ्कारत्वं चेतनहेतुत्वं चित्तत्वं मनसः स्थानं गलान्तरं बुद्धेर्वदनं अहंकारस्य हृदयं चित्तस्य नाभिरिति स्थानानि। एषां चन्द्रब्रह्मरुद्रक्षेत्रज्ञाः अधिष्ठात्र्यो देवताः व्यूहदेवा वासुदेवादयोऽपि तत्तदन्तर्यामितयाऽत्रोपास्याः इत्येवमुभयमपि घटत एव। तैजसाहङ्कारकार्याणि बाह्येन्द्रियाणि दश तेऽपि

ज्ञानकर्मभेदेन द्विविधानि। तत्र श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणभेदेन पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि दिग्वातार्कवरुणाश्विनः एतेषां देवताः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा विषयाः। वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि वह्नीन्द्रविष्णुमृत्यु-प्रजापतिरूपा देवताः वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः पञ्च कर्मेन्द्रिया-विषयाः। भूतादि-लक्षणतामसाहङ्काराच्छद्बादितन्मात्राणि आकाशादि-महाभूतानि चोत्पद्यन्ते तामसाहङ्कारस्य भूतानां चान्तरालिकव्यवहित-सूक्ष्मपरिणामात्मकं द्रव्यं तन्मात्रशब्दाभिधेयं दुग्धदध्योरान्तरालिक-सलिलादिपरिणामवत्। तदेव स्थूलावस्थापन्नभूतशब्दवाच्यं भवति। एवं च तामसादहङ्काराच्छब्दतन्मात्रं शब्दतन्मात्रादाकाशं आकाशात् स्पर्शतन्मात्रं तस्माद्वायुःवायोः रूपतन्मात्रं ततस्तेजस्तेजसो रसतन्मात्रं तस्माज्जलं जलाद्गन्धतन्मात्रं तस्मात्पृथिवीत्यु-त्पत्तिक्रमः। तेषां गुणा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, तत्र पञ्चैव पृथिव्याः गुणाः रसपर्यन्ता जलस्य रूपपर्यन्तास्तेजसः स्पर्शपर्यन्तौ वायोः शब्दमात्रं नभसः। प्राणाः पञ्चविधाः प्राणापानसमानोदानव्यानभेदात् नागकूर्मादीनां प्राणादिष्वेवान्तर्भावान्न पृथग्ग्रहणम्। इत्थं प्रकृतिमहदहङ्कारमनोदशेन्द्रि-याणि तन्मात्रपञ्चकं भूतपञ्चकं चेति चतुर्विंशतितत्त्वानि प्राकृतानि। तत्र प्रकृतिमहदहङ्काराः पञ्च भूतानि च स्थूलदेहस्योपादानकारणानि इन्द्रियाणि भूषणे रत्नानीव तदाक्रम्य स्थितानि पञ्चतन्मात्राणि मनो दशेन्द्रियाणि प्राणश्च सूक्ष्मदेहस्योपादानानि ब्रह्माण्डं च कपित्थफलाकारं पञ्चीकृतं पञ्चमहाभूतारब्धं चतुर्दशलोकगर्भकं प्राकृतद्रव्यं मुमुक्षुहेयञ्च विभज्य द्विधा पञ्चभूतानि देवस्तदर्धानि पश्चाद्विभागानि कृत्वा तदन्येषु मुख्येषु भागेषु तत्तन्नियुञ्जन्सपञ्चीकृतं पश्यति स्मेति पञ्चीकरणम्। महदादिशरीरपर्यन्तेषु मध्येऽन्नधिकारत्वात् शरीरमन्नमयः पुरुष इत्युच्यते ज्ञानेन्द्रियैः सहितं मनोमयः पुरुषः कर्मेन्द्रियैः सहितं प्राणादिपञ्चकं प्राणमयः पुरुषः जीवात्मा विज्ञानमयः पुरुषः परमात्मानन्दमयः पुरुषः-"स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" इत्यादिश्रुतिभ्यः।

लयक्रमश्च पृथिवी गन्धतन्मात्रद्वारेणाप्सु लीयते आपो रसत-न्मात्रद्वारेण तेजसि तेजो रूपतन्मात्रद्वारेण वायौ वायुः स्पर्शतन्मात्रद्वारेण व्योम्नि व्योम शब्दतन्मात्रलयपूर्वकं तामसाहङ्कारे इन्द्रियाणि राज-

साहङ्कारे मनो देवश्च वैकारिके त्रिविधोऽप्यहङ्कारो महति स चाव्यक्ते सोऽपि पुरुषे सोऽपि पुरुषोत्तमे इति प्राकृतः।

अथ कालमाह कालस्वरूपं चेति। च पुनः कालस्वरूपमचेतनं मतमित्यन्वयः। प्राकृताप्राकृतोभयभिन्नत्वे सत्यचेतनद्रव्यविशेषः काल उच्यते। स च नित्यो विभुश्च ''अथ ह वा नित्यो पुरुषः प्रकृतिः काल'' इति श्रुतेः। स च भूतभविष्यद्वर्त्तमानचिरक्षिप्रादिव्यवहारहेतुः सर्गप्रलययोर्निमित्तं च परमाण्वादिपरार्द्धान्तव्यवहारासाधारणं च। तत्र यावता दिवाकरः परमाणुपरिमाणकं देशमाक्रमति स कालः परमाणुशब्दाभिधेयः, द्वौ परमाणू द्व्यणुकस्त्रयो द्व्यणुकास्त्रसरेणवः त्रसरेणुत्रिकं त्रुटिः त्रुटिशतं वेधः त्रिभिर्वेधैर्लवः तैस्त्रिभिर्निमेषः पञ्चशनिमेषाः काष्ठा त्रिंशत्काष्ठाः कलाः कलास्त्रिंशन्मुहुर्तः त्रिंशन्मुहूर्तैर्मानुषमहोरात्रं तैः पञ्चदशभिः पक्षः द्वौ पक्षौ मासः द्वौ मासावृतुः षण्मासैरयनं द्वेऽयने वर्षं तत्र दक्षिणायनं देवानां रात्रिरुत्तरायणं च दिनम् अयनद्वयात्मकाहोरात्राणां षष्ठ्यधिकशतत्रयेण देववर्षदिव्यैर्वर्षसहस्रैर्द्वादशभिः कृतादियुगचतुष्टयम्। तत्राष्टशतोत्तरचतुःसहस्रवर्षपरिमितं ससंध्यं कृतयुगम्, षट्शतोत्तर-त्रिसहस्र-वर्षपरिमितं ससंध्यं त्रेतायुगम्, चतुःशतोत्तरं द्विसहस्रवर्षपरिमितं ससन्ध्यं द्वापरयुगम् शतद्वयोत्तरैकसहस्रवर्षपरिमितं ससंध्यं कलियुगं भवति। चतुर्युगसहस्रपरिमितं चतुर्मुखदिवसं तत्रैकस्मिन्दिवसे मनवश्चतुर्द्दश जायन्ते तथैव सप्तर्षयो महेन्द्रादयश्च। तत्र चतुर्युगाणां साधिका ह्येकसप्ततिमन्वन्तं मनोः काल उच्यते। तस्य चतुर्दशगुणब्राह्ममहस्तत्परिमाणिका च रात्रिः। ईदृशाहोरात्राणां मानेन वर्षशतं चतुर्मुखस्यायुस्तदर्द्धं तत्रैकं व्यतीतं द्वितीयपरार्द्धस्य वर्त्तमानस्य प्रथमोऽयं कल्पो वाराहसंज्ञकः। सर्वमपि प्राकृतं कालाधीनं कालस्यैतत्सर्वनियामकत्वेऽपि परमेश्वरस्य नियम्यत्वमेव ''ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्य'' इतिश्रुतेः। लीलाविभूतौ तु परमेश्वरस्य कालपारतन्त्र्यमनुकरणमात्रमेव नित्यविभूतौ तु न तत्प्रभावशंकापि ''कलामुहूर्तादिमयश्च कालो न यद्विभूतेः परिणामहेतु''रित्यादिवचनात्। इत्यचेतनपदार्थः।।३।।

अप्राकृमित्यादिना। अचेतनं निरूप्यते अप्राकृतमित्यादिना। अप्राकृतम्-इत्यादि से अचेतन का कथन करते हैं। (तदचेतनं मतम्) वह

अचेतन श्रुति से स्वीकार किया गया है।

जो पदार्थ ज्ञानादि धर्म का अधिकरण न हो एवं ज्ञानस्वरूप से उसको अचेतन कहते हैं।

वह–अप्राकृतप्राकृत तथा काल भेद से तीन प्रकार का है। उनमें अप्राकृत को कहते हैं। प्रकृति तथा काल से अत्यन्त विलक्षण प्रकाशात्मक अनावरक स्वभाव अचेतन द्रव्य अप्राकृत (पदार्थ) है। इसमें श्रुति प्रमाण देते हैं–''आदित्य वर्ण तमसः परस्तात् । तमः'' शब्द के वाच्य–प्रकृति तथा काल से विलक्षण सूर्य के समान प्रकाशस्वरूप यह श्रुति का अर्थ है। इससे इस मत का भी खण्डन हो गया कि त्रिगुणात्मक द्रव्य से भिन्न शुद्ध माया का कार्य धाम है। ऐसा मायावादी लोगों का जो सिद्धान्त है।

प्रकृति मण्डल से भिन्न देश वृत्ति परिच्छिन्न की तरह दृश्यमान भी अपरिच्छिन्न (व्यापक) धाम पदार्थ है।

श्रीगिरिधरप्रपन्न की इस पंक्ति का स्पष्टीकरण करने के लिये हम पुरुषोत्तमाचार्य के लेख को उदृधृत करते है–यथा––

तत्र च प्रकृति मण्डलादभिन्नदेशीयमपरच्छिन्नम्। प्राकृतदेशीयन्तु परिच्छिन्नमिव–दृश्यमानमपि–अपरिच्छिन्नमेव।

भगवद् धाम के दो भेद हैं–नित्यलीला विभूति रूप एवं अवतार लीलाविभूति रूप। वैकुण्ठधाम नित्य लीला विभूतिरूप है वह प्रकृति मण्डल से बाह्य एवं व्यापक है।

अवतार लीलाविभूतिरूप धाम वृन्दावन–अवध–द्वारिका है। वह प्रकृति देश के अन्तर्वती होकर परिच्छिन्न के तरह दीखने पर भी व्यापक है।

''प्रकृति मण्डलाद्भिन्नदेशं......''

यहाँ प्रकृति मण्डल से भिन्न नित्यविभूति अपरिच्छिन्न है इसका दर्शन अर्जुन ने विश्वरूप दर्शन के समय किया। आनन्द और नित्य विभूति रूप परमात्मा का यह लोक परमपद कहा जाता है अर्थात् इसी लोक के लिए वेदों में परमपद का प्रयोग हुआ है–जैसा कि श्रुति में कहा गया है–योऽस्याध्यक्षः–अर्थात् जो इस सृष्टि का अध्यक्ष है वह परम व्योम (धाम) में रहता है, विष्णु के उस परम पद का दर्शन विद्वान् लोग (भक्तजन) सदा करते हैं। हे तात! परमात्मा का लोक दुःख रहित है। यह अप्राकृत धाम

भगवान् के अनादि संकल्प से भगवान् और नित्यमुक्तों के लिए भोग्यादि रूप से अनेक प्रकार का है। उनमें भोग्य भगवद्विग्रहादि हैं, भोगोपकरण भूषण आयुध, यान, आसन, अलंकरण हेतु पुष्प पत्र फलादि हैं। स्थान रूप में गोपुर, चौक, महल, मणि, मण्डप, वन उपवन सरोवरादिक हैं। नित्यधाम में परमेश्वर और नित्य मुक्तों के विग्रह भगवान् की अनन्त इच्छा से स्वाभाविक रूप से सिद्ध हैं। भगवान् के अनुग्रह से माया के बन्धन से मुक्त जो बद्ध मुक्त जीव हैं उन्हें ही अनादि सिद्ध दिव्य मङ्गल विग्रह की प्राप्ति होती है वह दिव्य विग्रह किसी अन्य से जन्य नहीं है। क्योंकि वह परिणाम आदि विकार से रहित है। जैसे उत्सव में बने बनाये वस्त्र और आभूषण आदि राज सेवकों को प्राप्त होते हैं वैसे ही प्रकृति के बन्धन से निवृत्ति के समय में पूर्व सिद्ध नित्य निर्विकार दिव्य मङ्गल विग्रह भगवान् की सेवा के उपकरण भगवान् निज सेवकों को प्रदान करते हैं। श्रीभगवान् का नित्य मङ्गल दिव्य विग्रह उनके स्वरूप के समान अनन्त कल्याणकारी गुणों का आश्रय है। निरतिशय सौन्दर्य, मार्दव, लावण्य, सौगन्ध्य, सौकुमार्य आदि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। ''भगवान् में सब गन्ध और सर्वरस है, नख शिख पर्यन्त सुवर्ण सदृश दीप्ति है। भगवान् वासुदेव सर्वदर्शन, स्पर्शन, श्रवण, गमनादि शक्तिमान् है उसमें स्वरूप से भिन्न प्राकृत इन्द्रियों की कल्पना से गौरव दोष होता है अतः स्वरूप भिन्न इन्द्रियों की कल्पना नहीं करनी चाहिए। ''अपाणिपदो..'' यह श्रुति इसमें प्रमाण है। श्रुति का अर्थ है वह गतिमान् परमात्मा बिना हाथ और पैरों के सबको ग्रहण कर लेता है, बिना नेत्र के देखता है और बिना कान के सुनता है। उस परमात्मा से साम्य प्राप्त करने वाले जीवों का भी वही व्यवहार होता है-श्रुति का वचन है कि निरञ्जन (मायातीत) उसकी समानता को प्राप्त कर लेता हैं। स्मृति में भी कहा गया है-''मम साधर्म्यमागताः'' कालातीत होने से वहाँ काल का प्रभाव नहीं होता है। कला, मुहूर्त्त आदि मय काल भगवान् की विभूति के परिणाम का कारण नहीं है-यह विष्णु पुराण के चतुर्थ अंश में ब्रह्माजी ने कही है।

अथ प्राकृतपदार्थमाह प्राकृतमिति...

अब प्राकृत पदार्थ का वर्णन करते हैं-माया, प्रधान आदि पदों से जिसे कहा जावे उसे प्राकृत कहते हैं। आदि शब्द से माया के अन्य पर्याय

अव्यक्त आदि शब्दों का संग्रह हो जाता है श्रुतियों में कहा गया है-माया को प्रकृति समझों और मायी को महेश्वर, प्रधान और क्षेत्रज्ञ का स्वामी गुणेश है, पुरुष अव्यक्त से परे है-आदि।

शुक्लादिभेदाश्च समे-इन पदों के द्वारा माया का लक्षण करते हैं। प्राकृत पदार्थ में शुक्ल, लोहित और कृष्ण शब्द से कहे गुण क्रमशः सत्व, रजस् एवं तमस् ये तीन गुण विद्यमान रहते हैं। अर्थात् प्रधान गुणाश्रय है। श्रुति में माया (प्रधान) को लोहित, शुक्ल और कृष्ण इसी अर्थ में कहा है। सत्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण-इस प्रकार तीन गुण हैं। सत्त्वगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ और तमोगुण से प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं।

अब सृष्टि क्रम का वर्णन करते हैं-प्रलय की समाप्ति पर सृष्टि के समय भगवान् पुरुषोत्तम के ईक्षण मात्र से स्वतन्त्र सत्तावाली प्रकृति के गुणों में विक्षोम उत्पन्न होता है तथा सात्त्विक आदि तीन भेदों वाला अध्यवसाव (निर्णय) हेतु महान् (महत् तत्त्व अर्थात् बुद्धि तत्त्व) उत्पन्न होता है। तदनन्तर उस महत् से जीवों का देह आदि में आत्मबुद्धि उत्पन्न करने वाला असाधारण हेतु अहंकार तत्त्व प्रकट होता है। वह अहंकार भी सात्त्विक आदि भेद से तीन प्रकार का होता है। इसे ही वैकारिक, तैजस और भूतादि संज्ञक कहते हैं। वैकारिक (सात्त्विक) अहंकार से इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता और मन उत्पन्न होता है। मन ही वृत्ति (व्यापार) भेद एवं स्थान भेद से अन्तःकरण चतुष्टय की संज्ञा को प्राप्त होता है। (अन्तःकरण अर्थात् द्रव्य और अन्तर ज्ञान का कारण)।। मननादि अर्थात्-संकल्प विकल्प का हेतु मन कहा जाता है। वह मन शब्द आदि विषयों के सम्बन्ध से बन्धन का हेतु है तथा विषयों का परित्याग करके भगवत्सम्बन्धी पदार्थों में लगाने से मोक्ष का हेतु है। कहा गया है-मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण है। बुद्धि का लक्षण करते हैं-बोध कराने का कारण बुद्धि है। देह आदि में अहंकार का हेतु अहंकार है और चिन्तन का हेतु चित्त है। मन का स्थान गले के मध्य है, बुद्धि का स्थान वदन है, अहंकार का स्थान हृदय तथा चित्त का स्थान नाभि है। इनके अधिष्ठातृ देवता क्रमशः चन्द्र, ब्रह्मा, रूद्र और क्षेत्रज्ञ हैं (मन का अधिष्ठातृ देवता चन्द्रमा, बुद्धि का अधिष्ठातृ देवता ब्रह्मा, अहंकार का देवता रुद्र और चित्त का अधिष्ठातृ देवता क्षेत्रज्ञ है)।।

वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्र इनके व्यूह देवता है। अन्तर्यामी के रूप में इन देवताओं की मन आदि में उपासना करनी चाहिए।

तैजस अहंकार के कार्य दस बाह्येन्द्रियाँ हैं। वे भी ज्ञान और कर्म के भेद से दो प्रकार की हैं। इनमें श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण भेद पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा दिक्, वायु, अर्क (सूर्य), वरुण और अश्विनीकुमार क्रमशः इनके देवता हैं। इन ज्ञानेन्द्रियों के क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध विषय हैं अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ इन विषयों को ग्रहण करती हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ पाँच कर्मेन्द्रियां हैं इनके क्रमशः-अग्नि, इन्द्र, विष्णु, मृत्यु और प्रजापति देवता हैं। इन कर्मेन्द्रियों के क्रमशः वचन, आदान (ग्रहण), विहरण, उत्सर्ग और आनन्द ये विषय हैं।

भूतादिलक्षण (तामस) अहंकार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तन्मात्राएँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं। तामस अहंकार और पञ्चभूतों के मध्य सूक्ष्म परिमाण रूप द्रव्य का नाम तन्मात्रा है जैसे दूध और दही के मध्य में बुदबुदे होते हैं। वही तन्मात्रा स्थूल अवस्था में भूतशब्द से कहा जाता है (तामस अहंकार तथा भूत अवस्था के मध्य सूक्ष्म परिणाम का नाम तन्मात्रा है)।

इस प्रकार तामस अहंकार से शब्द तन्मात्रा, शब्द तन्मात्रा से आकाश; आकाश से स्पर्शतन्मात्रा, उससे वायु, वायु से रूपतन्मात्रा और उससे तेज, तेज से रसतन्मात्रा एवं उससे जल, जल से गन्धतन्मात्रा एवं उससे पृथिवी महाभूत की उत्पत्ति होती है। यह क्रम है। इनमें शब्द, स्पर्श,रूप, रस और गन्ध ये पाँच गुण हैं। पृथिवी में पाँचों गुण रहते हैं, जल में रस पर्यन्त चार रहते हैं, तेज में रूप पर्यन्त तीन गुण, वायु में स्पर्श पर्यन्त दो गुण तथा आकाश में शब्दमात्र गुण रहता है।

प्राण पाँच प्रकार के हैं--

प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान नाग, कूर्म आदि पाँच अन्य प्राणों का प्राण, अपान आदि में ही अन्तर्भाव हो जाता है इनका पृथक् ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस प्रकार प्रकृति, महत्, अहंकार, मन, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, शब्द आदि पञ्च तन्मात्राएँ और आकाश आदि पाँच महाभूत (भूत) ये चोईस प्राकृत तत्त्व हैं। इनमें से प्रकृति, महत्

अहंकार और पञ्चभूत स्थूलदेह के उपादान कारण है। इन्द्रियाँ आभूषण में जड़े हुए रत्न के समान हैं तथा पञ्चतन्मात्राएँ इनको आक्रान्त करके स्थित हैं। मन, दसों इन्द्रियाँ और पञ्चप्राण सूक्ष्म देह के उपादान कारण हैं। (वेदान्तरत्नमञ्जूषा की कुञ्चिका टीका) में सूक्ष्म शरीर में बुद्धि का भी ग्रहण किया है इसके अनुसार सूक्ष्म शरीर में बुद्धि, मन, दस इन्द्रियाँ एवं पञ्चप्राण–इस प्रकार सत्रह अवयव होते हैं यही वेदान्त (अद्वैत) में स्वीकार किया गया है।। ब्रह्मण्ड कपित्थ फल के समान पञ्चीकृत है। यह चतुर्दश लोक वाला, प्राकृत द्रव्य और मुमुक्षुओं के लिए हेय है। पञ्चभूतों को दो भागों में विभक्त करके, उनके प्रथम आधे भाग को पुनः चार भागों में विभक्त करके उस चतुर्थांश को अपने से भिन्न आधे भागों में मिलाने से पञ्चीकरण होता है। महदादि से शरीर पर्यन्त मध्य में स्थूल शरीर अन्न का विकार होने से अन्नमय पुरुष कहा जाता है। ज्ञानेन्द्रियों से सहित मन को मनोमय पुरुष कहते हैं। कर्मेन्द्रियों के सहित प्राणादिक पञ्चक को प्राणमय पुरुष कहते हैं। जीवात्मा को विज्ञानमय पुरुष कहते हैं तथा परमात्मा आनन्दमय पुरुष कहा जाता है–इनका विवेचन "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" इस श्रुति में किया गया है।

अब सृष्टि के लय का क्रम लिखते हैं–पृथिवी गन्ध तन्मात्रा के द्वारा जल में लीन होती है। जल रसतन्मात्रा के द्वारा तेज में लय होता है, तेज रूपतन्मात्रा के द्वारा आकाश में, आकाश शब्द तन्मात्रा के द्वारा तामस अहंकार में लीन होता है। दस इन्द्रियाँ राजस अहंकार में तथा इनके अधिष्ठाता देवता और मन सात्त्विक अहंकार में लीन होते हैं। यह त्रिविध अहंकार महत्तत्त्व में, महत्तत्त्व प्रकृति में, प्रकृति पुरुष में और पुरुष परब्रह्म श्रीकृष्ण में लीन होता है। इस प्रकार प्राकृत अचेतन तत्त्व का निरूपण किया गया।

अब काल स्वरूप का निरूपण करते हैं। प्राकृत और अप्राकृत से भिन्न अचेतन द्रव्य को काल कहते हैं। वह नित्य और विभु है। श्रुति में कहा गया है कि पुरुष प्रकृति और काल नित्य है। यही काल भूत, भविष्य, वर्तमान, चिर, क्षिप्र आदि व्यवहारों का तथा सृष्टि और लय का कारण और परमाणु से परार्द्ध पर्यन्त व्यवहार का असाधासरण कारण है। जितने समय

में सूर्य परमाणु बराबर देश को आक्रमण (गमन) करता है, उसे परमाणु कहते हैं-दो परमाणु से द्वयणुक-तीन द्वयणुक के त्रसरेणु, तीन त्रसरेणु से १ त्रुटि-१०० त्रुटि से १ वेध-३ वेध से १ लव, तीन लव से एक निमेष, १५ निमेष से एक काष्ठा, ३० काष्ठा से एक कला, ३० कला से एक मुहूर्त, ३० मुहूर्त से एक दिन रात, १५ दिन से एक पक्ष, २ पक्ष से एक मास, दो मास से एक ऋतु, ६ मास या ३ ऋतु से एक अयन, २ अयन से एक वर्ष, मनुष्य के एक वर्ष से देवताओं का एक दिन रात होता है (दक्षिणायन में देवताओं की रात्रि तथा उत्तरायण में देवताओं का दिन होता है)।। इस प्रकार के दो अयनों वाले ३६० अहोरात्रों से देवताओं का एक वर्ष होता है। देवताओं के १२००० वर्षों में सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग का एक चतुष्टय माना है।। इनमें ४८०० दिव्य वर्षों में सन्ध्या सहित कृत (सत्य) युग, ३६०० दिव्य वर्षों में सन्ध्या सहित त्रेतायुग, २४०० दिव्य वर्षों में सन्ध्या सहित द्वापर एवं १२०० दिव्य वर्षों में ससन्ध्या कलियुग होता है। (इस गणना में सहस्र संख्या युग की है तथा शत संख्या युग की संन्ध्या की है जैसे कृतयुग का पूर्ण काल ४८०० है इसमें ४००० युग का काल है तथा ८०० सन्ध्या काल है-ऐसे ही अन्य में भी समझना चाहिए)। चार युगों की एक हजार बार आवृत्ति होने पर अर्थात् चार युगों की सहस्र चौकड़ी व्यतीत होने पर ब्रह्मा का एक दिन होता है। ब्रह्मा के एक दिन में १४ मनु हो जाते हैं, १४ बार सप्तर्षि और १४ बार इन्द्र हो जाते हैं। चारयुगों की बहत्तर चौकड़ी (कुछ अधिक) एक मनु का काल है। इससे चतुर्दश (१४) गुणा, ब्रह्मा का दिन होता है इतने ही परिमाण की ब्रह्मा की रात्रि होती है। इस प्रकार के अहोरात्र (दिन--रात) के प्रमाण से ब्रह्मा की आयु सौ वर्ष की है। इस समय ब्रह्मा का प्रथम परार्द्ध बीत चुका है, अब द्वितीय परार्द्ध का यह प्रथम कल्प है-इसकी वराह संज्ञा है। सब प्राकृत वस्तु काल के अधीन है। काल सब का नियामक है परन्तु परमेश्वर से नियम्य है। ''ज्ञः कालकालो'' इस श्रुति में यह स्पष्ट है। इस लीला विभूति में ईश्वर काल के अधीन है। यह अनुकरण मात्र है। नित्यविभूति में काल का अणुमात्र भी प्रभाव नहीं है। कहा गया है-कला, मुहूर्त आदिमय काल उस नित्य विभूति के परिणाम का कारण नहीं है। इस प्रकार अचेतन पदार्थ का विवेचन हुआ।

अथ तत्पदवाच्यपरमात्मतत्त्वमाह--

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम् ।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्।।४।।

स्वभावतः–चित् शक्ति के द्वारा ही जिनके सब दोष दूर होगये हैं–सम्पूर्ण कल्याण गुणों के एक पुंज स्वरूप। वासुदेवादि व्यूहों के अङ्गी ब्रह्म (व्यापक) एवं पर क्षराक्षर से उत्कृष्ट एवं वरण करने के योग्य कमल नेत्र श्रीकृष्ण हरि का हम ध्यान करते हैं।।४।।

स्वभावत इत्यादिना। वयं कृष्णं सदानन्दं ध्यायेम इत्यन्वयः। बहुवचनं शिष्याभिप्रायेण ''कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचक'' इति वचनात्।

ननु व्यासार्जुनादिष्वनेकेषु कृष्णशब्दो वर्त्तते कथमेवमर्थः क्रियत इति चेत्तत्राह ब्रह्मेति। ब्रह्मस्वरूपमित्यर्थः। तत्रापि विधिदेवादावतिव्याप्तिवारणायाह परमिति। परं क्षराक्षराभ्यामुत्कृष्टम् एतैर्विशेषणैर्रूपम्।

क्रमसूत्रं व्याख्यातमिदानीं लक्षणसूत्रादीन्यन्यान्यपि व्याचक्षाणो भगवत्पदार्थाभिन्नं ब्रह्मपदार्थमाह निर्वचनमुखेन स्वभावत इति। स्वभावेनैवानादिप्रकृत्यैवापास्ता निरस्ताः समस्ताः सर्वे दोषा यस्मात्तं, दोषाश्च ''अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा'' इति पातञ्जलसूत्रात् क्लेशाख्याः पञ्च। त एव तमोमोहमहामोहतामिस्रान्धतामिस्रशब्दाभिधेयाः। तत्र स्वरूपावरकं तमः देहाद्यबुद्धिर्मोहः, भोगेच्छा महामोहः, क्रोधस्तामिस्रः, अतन्नाशे स्वनाशबुद्धिरन्धतामिस्रः। जन्मास्तित्ववृद्धिपरिमाणापक्षयमरणात्मका विकाराः षड्विधाः। सत्त्वरजस्तमांसि प्राकृतगुणास्तत्कार्य्यभूताश्चानन्ता बद्धक्षेत्रज्ञधर्मा एतेषामत्यन्ताभावाश्रयत्वमित्यर्थः।

नन्वेवं चेत्तर्हि गुणदोषवत्त्वाभावान्निर्विशेषसिद्धिः, साचास्मत्समत्वादिष्टैवेति चेत्तत्राह अशेषकल्याणगुणैकराशिमिति। अशेषाणां कल्याणात्मकानामेको मुख्यो राशिपुञ्जस्तमशेषकल्याणगुणानामेके मुख्या राशयो यस्मिंस्तमिति वा। गुणाश्च ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यतेजोवीर्य्यसौशील्यवात्सल्यार्जवसौहार्दसर्वशरण्यत्वसौम्यत्वकारुण्यस्थिरत्वधैर्य्यत्वदयामाधुर्य्यमार्दवादयः। तत्र ज्ञानं सर्वदेशकालवस्तुविषयकप्रत्यक्षानुभवरूपं, शक्ति-

श्चाघटनघटनापटीयस्वरूपसामर्थ्यं, बलं विश्वधारणशक्तिः, ऐश्वर्य्यं नियमनशक्तिः, वीर्य्यं श्रमहेतोरपरिमितत्वेऽपि श्रमशून्यत्वं, तेजः परैरनभिभूयमानत्वे सति पराभिभवनसामर्थ्यम्। एते षट् भगवच्छब्द-वाच्याः। सुशीलत्वं जात्यादिमहत्त्वमनपेक्ष्यातिमन्दैरप्यमायया संश्लेष-भावत्वं, वात्सल्यं भृत्ये दोषाननुसन्धानत्वम् मार्दवं आश्रितदुःखासहिष्णुत्वं, आर्जवं मनोवाक्कायैः समत्वं, सौहार्दं आत्मशक्तिमनतिक्रम्यपररक्षणोद्यमः, सर्वशरण्यत्वं ब्रह्मादिस्थावरान्तैः साधारणोपायत्वं, तदेव सौम्यत्वमपि, कारुण्यं परदोषक्षपणस्वभावः, स्थिरत्वं युद्धादावचलत्वं, धैर्यत्वं प्रतिज्ञा-पालनत्वं, दया निर्हेतुकपरदुःखदुखित्वे सति तन्निराचिकीर्षा, माधुर्यं अमृतपानवत् स्वाददर्शित्वमित्यादयः स्वाभाविका अनंताश्च, सौशील्याद-यस्तु भगवदाश्रयणे आश्रितरक्षणे चोपयोगिन इति विवेकः।

पुनः कीदृशं व्यूहाङ्गिनमिति। उपलक्षणार्थोऽयं व्यूहशब्दोऽन्या-वतारमूर्तीनां व्यूहा अवताराश्चाङ्गानि तानि विद्यन्ते यस्य स तमनन्तमूर्ति-कमित्यर्थः। वासुदेवादयश्चत्वारः केशवादयो द्वादशाश्चैते व्यूहाः। अवतारास्त्रिविधाः गुणपुरुषलीलाभेदेन। गुणनियन्तृत्वेन तदभिमानिदेव-कालादिभिः सृष्ट्यादिकर्त्तारो ब्रह्मविष्णुरुद्रास्त्रिविधा गुणावताराः। पुरुषा अपि त्रिधा आद्यो महत्सृष्ट्या प्रकृतिनियन्ता कारणार्णवशायी, द्वितीयो गर्भोदशायी समष्ट्यान्तर्यामी, तृतीयः क्षीरोदशायी व्यष्ट्यान्तर्यामी। लीलावतारा अपि आवेशस्वरूपभेदेन द्विविधाः। तत्रावेशोऽपि द्विविधः स्वांशावेशः शक्त्यंशावेशश्च। तत्र स्वांशो नरनारायणादिरूपः। शक्त्यंशावेशोऽपि प्रभवविभसंज्ञकेन द्विविधः। तत्राद्या धन्वन्तरि-परशुरामादयः, द्वितीयः कपिलऋषभचतुः सननारदव्यासादिरूपः। पूर्णश्च नृसिंहो दाशरथी रामः श्रीकृष्णश्चेति विवेकः। एवं पूर्णत्वमुक्त्वा सोपास्यत्वमाह वरेण्यमिति। ब्रह्मादिश्वपाकान्तैः सर्वभूतैर्वरणीयमित्यर्थः। वरेण्यत्वे हेतुगर्भितविशेषणद्वयमाह कमलेक्षणं कमलोपमे ईक्षणे यस्य स तं हरिं ध्यातॄणां मनोहरं तेषां पापं हरतीति वा, कमलेक्षणमित्यपि सौंदर्यत्वेन हरिमिति पापहर्तृत्वेन च सर्वेषां वरणीयमिति भावः।।४।।

अब तत् पद के वाच्य परमात्म तत्त्व को कहते हैं।

स्वभावत इत्यादि से।

हम तो कृष्णम्-सदानन्द का ध्यान करते हैं इस प्रकार से अन्वय है। बहुवचन का प्रयोग शिष्यों के तात्पर्य से है। कृष्ण शब्द में कृष-भू-सत्ता का वाचक है ण कार आनन्द का वाचक है। ऐसा श्रुति वाक्य है।

शङ्का--व्यास अर्जुनादि अनेक अर्थों में कृष्ण शब्द का प्रयोग देखा जाता है इस प्रकार का (सदानन्द) किस प्रकार से करते हो ऐसी शंका होने पर कहते है-ब्रह्मेति-ब्रह्मस्वरूप-श्रीकृष्ण। ब्रह्म शब्द की भी वेद-ब्रह्मा इत्यादि से अति व्याप्ति है उसके निवारण के लिये परमिति।। परम्-क्षराक्षर से उत्कृष्ट इन विशेषणों का स्वरूप है।

उपक्रम का (अथातो ब्रह्म जिज्ञासा) व्याख्यान किया-अब लक्षण सूत्रादि अन्य का भी व्याख्यान करने की इच्छा वाले आचार्य भगवत् पदार्थ से अभिन्न ब्रह्म पदार्थ को निर्वचन के द्वारा कहते हैं--स्वभावत इति।

स्वभाव से अर्थात् अनादि प्रकृति (चित् शक्ति के द्वारा ही सम्पूर्ण दोष जिससे निरस्त हो गये हैं उसका (हम ध्यान करते हैं) (अविद्याऽस्मिता-रागद्वेषाभिनिवेशा' इस योग सूत्रानुसार पञ्च क्लेश ही दोष पद का वाच्य है। वही विष्णुपुराण में १-तमः २-मोह ३-महामोह ४-तामस ५-अन्धतामिस्र। शब्द से कहे गये हैं। वहाँ स्वरूपावरण (अर्थात् स्वरूपविस्मृति) का नाम तम है। देहादि में अहं बुद्धि का नाम मोह है। भोग की इच्छा महामोह है। तामस क्रोध का नाम है। आत्मा के नाश न होने पर भी आत्मनाश बुद्धि-अन्धतामिस्र है। १-जन्म २-अस्तित्व ३-वृद्धि ४-परिणाम ५-अपक्षय ६-मरण यह विकार छह प्रकार के है। सत्त्व रज तम यह प्राकृत गुण है उनके कार्य रूप बद्ध आत्मा के धर्म हैं। इनके अत्यन्ताभाव का आश्रय श्रीकृष्ण हैं।

शङ्का-यदि ऐसा है तो तीन गुण दोष का अभाव होने से निर्विशेष ब्रह्म की सिद्धि हो गई वह तो हमको सम्मत होने से इष्ट है। ऐसी शंका होने पर कहते हैं-अशेषकल्याणगुणैकराशिमिति (हमारे श्रीकृष्ण अशेष कल्याण गुणों के राशि हैं आपके निर्विशेष तत्त्व तो निर्धर्मिक हैं) अशेष कल्याणात्मक गुणों के एक-मुख्य राशि=पुंज, अथवा अशेष कल्याण गुणों के एक मुख्य राशि है जिसमें-ज्ञान शक्ति बल ऐश्वर्य तेज वीर्य्य सौशील्य वात्सल्य आर्जव सौहार्द-सर्वशरण्यत्व सौम्यत्व कारुण्य स्थिरत्व धैर्यत्व दया माधुर्य्य मार्दव

आदिक गुण है-उनमें सर्वदेश काल वस्तु विषयक प्रत्यक्षानुभव रूप ज्ञान है। जो बात असम्भव हो उसको सम्भव बनाने में निपुण सामर्थ्य-शक्ति है। विश्वधारण शक्ति-बल है। नियमनशक्ति ऐश्वर्य। अपरिमित श्रम कारण होने पर भी श्रम रहित होने का नाम वीर्य है। दूसरे से तिरस्कृत न होकर दूसरे को तिरस्कृत करने की सामर्थ्य को तेज कहते हैं। यह छह गुण भगवत् शब्द के वाच्य हैं अर्थात् यह ६ गुणजिसमें रहते हैं उसको भगवान् कहा जाता है।

जात्यादि के महत्त्व की अपेक्षा न कर-अतिहीन पुरुषों के द्वारा कपट रहित आलिङ्गन का भागी बनना सुशीलत्व है। भृत्य विषयक दोषों का अनुसन्धान न करना वात्सल्य गुण है। आश्रित के दुःख का सहन न करना मार्दव (कोमलता) है। मन वाक् शरीर से समता-आर्जव है। अपनी शक्ति का अतिक्रम न कर-दूसरे के रक्षण का प्रयत्न-सौहार्द है। ब्रह्मादि स्थावरान्त का साधारण रक्षकत्व सर्व शरण्यत्व है इसी का दूसरा नाम सौम्यत्व है। दूसरे के दोषों को सहन करने का स्वभाव का नाम कारुण्य है। युद्धादि में अचलता स्थिरत्व है। प्रतिज्ञा का पालन करना धैर्य है। बिना कारण से दूसरे के दुःख से दुःखी होना एवं दुःख के दूर करने की इच्छा का नाम दया है। अमृत पान के समान स्वाददर्शी दर्शित्व का नाम माधुर्य है। इत्यादिक गुण स्वाभाविक एवं अनन्त है। सौशील्यादि तो भगवदाश्रय में एवं आश्रित के रक्षण में उपयोगी हैं ऐसा (गुणों का) भेद है।

पुनः कैसा--व्यूहाङ्गिनम् इति। व्यूह शब्द यहाँ अन्यावतार मूर्तियों का उपलक्षण है। स्वबोधकत्वेसति, स्वेतर बोधकत्वं-उपलक्षणत्वम्। व्यूह शब्द यहां स्व का बोधक होकर अन्य अवतार मूर्तियों का बोधक है।

व्यूह एवं अवतार अङ्ग जिसके उसका नाम व्यूहाङ्गी है ऐसे अनन्त मूर्ति को वासुदेवादि चार, केशवादि द्वादश यह व्यूह है।

१-अवतार शब्द का निर्वचन श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी ने इस प्रकार किया है अवतारोनाम-स्वेच्छया धर्मसंस्थापानार्थम्-अधर्मोपशमनार्थम्-स्वीयानां वाञ्छापूर्त्यर्थम् विविधविग्रहैराविर्भाव विशेषः।

गुण पुरुष लीला भेद से अवतार तीन प्रकार के हैं अर्थात् १-गुणावतार २-पुरुषावतार ३-लीलावतार। गुणों के नियन्ता होने से, गुणों के अभिमानी देव, कालादि द्वारा सृष्टयादि कर्त्ता ब्रह्माविष्णुरूद्र तीन प्रकार के

गुणावतार हैं।

पुरुषावतार भी तीन प्रकार के हैं-प्रथम-महत्तत्व के स्रष्टा होने से प्रकृति के नियन्ता, कारणार्णवशायी, द्वितीय-गर्भोदशायी समष्टी अन्तर्यामी। तृतीय-क्षीरोदशायी-व्यष्टी अन्तर्यामी।

लीलावतार भी आवेशावतार, स्वरूपावतार भेद से दो प्रकार के हैं। आवेश भी दो प्रकार का है। स्वांश का आवेश एवं शक्ति-अंश का आवेश, उनमें स्वांशावेशावतार नरनाराणादि रूप है। शक्ति अंश आवेश भी प्रभव, विभव संज्ञा से दो प्रकार का है, उनमें प्रथम प्रकार के धन्वंतरि परशुरामादि हैं। द्वितीय प्रकार के कपिल ऋषभ सनकादिचार-नारदव्यासादि रूप हैं। पूर्णावतार नृसिंह दशरथ पुत्र श्रीराम, श्रीकृष्ण हैं-इस प्रकार का भेद है।

इस प्रकार से पूर्णत्व कहकर, अब सर्वोपास्यत्व को कहते हैं- वरेण्यमिति। ब्रह्मादि से लेकर चण्डाल पर्यन्त सभी भूतों के द्वारा वरण करने के योग्य हैं। वरेण्यत्व में हेतु गर्भित दो विशेषण कहते हैं-कमलेक्षणम्। कमल से उपमित है दोनों नेत्र जिसके उस हरिम्-,ध्यान करने वालों के मन को हरण करने वाले, अथवा उनके पाप को हरण करने वाले, कथन से कमलेक्षणम्-सौन्दर्य से वरण करने योग्य हैं एवं हरिम् कहने से सर्व के पाप का हरण करने से वरण करने के योग्य हैं ऐसा भाव है।।४।।

एवं जगत्कारणत्वसर्वशास्त्रवेद्यत्वमुक्तप्राप्यत्वमुमुक्षुध्येयत्वादिकं प्रतिपाद्येदानीं श्रीभूलीलाख्याभिर्निजपत्नीभिः साहित्यमाह--

इस तरह (भगवान् को) जगत्कारणत्व, सर्वशास्त्रवेद्यत्व, मुक्त प्राप्यत्व, मुमुक्षुध्येयत्वादि का प्रतिपादन करके, अब श्री भू लीला वाली निज पत्नियों के सहित (भगवान् है) इसका प्रतिपादन करते हैं। अङ्गे तु वामे-इत्यादि से।

अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्।।५।।

उन प्रभु के वाम भाग में श्रीवृषभानुजा (राधाजी) विराजमान हैं। उनके सौन्दर्यादि गुण श्रीकृष्ण के समान हैं वे अनेक सहचरीवृन्द से सेवित हैं, सम्पूर्ण इष्ट कामना की पूर्ति करने वाली हैं-हम उनका स्मरण करते हैं।।

अङ्गे तु वामे इत्यादिना।

भगवतः श्रीकृष्णस्य वामाङ्गे वृषभानुजां राधिकां सदा सर्वस्मिन् काले सर्वावस्थायां वा स्मरेमेत्यन्वयः। तुशब्देन रमासत्यभामयोर्ग्रहणं तु पुनः कृष्णस्य वामाङ्गे रमां सत्यभामां स्मरेमेत्यर्थः। एवं च सर्वाणि विशेषणानि देवीत्रय्याः ज्ञेयानि वैष्णवैः। कीदृशीमित्यपेक्षायामाह मुदा निरतिशयानन्दमूर्त्या विराजमानां विशेषण स्वरूपेण विग्रहेण वा प्रेमकारुण्यादिगुणैश्च राजते दीप्यते तथा तां--

"राधया माधवो देवो माधवेन च राधिका।

विराजते"। इति ऋक्परिशिष्टश्रुतेः। अत्र वाक्ये माधवपदेन रमायाः चकारेण सत्यभामाया अपि नित्यसम्बन्धः सूचितः। पुनः कीदृशीं अनुरूपसौभगां अनुरूपं श्रीभगवतः कृष्णस्य सदृशं सौभगं भगमैश्वर्य्यं यस्या सा तां कृष्णात्मिकत्वेन तच्छक्तित्वेन च तद्गुणैश्वर्य्यादिभवती-मित्यर्थः।

राधा कृष्णात्मिका नित्यं कृष्णो राधात्मको ध्रुवम्।

इति ब्रह्माण्डपुराणोक्तेः।

पुरुष कृष्णसर्वात्मा सा शक्तिः सर्वदेवता।
वराभयकरस्था या सेविता सर्वदैवतैः।।

इति गौतमीतन्त्रोक्तेः। तथा रमापि--

कृष्णात्मिका जगद्धात्री मूलप्रकृतिरुक्मिणी।
व्रजस्त्रीजनसम्भूता श्रुतिभ्यो ब्रह्मसङ्गता।।

इति गोपालोत्तरत्तापिनीमन्त्रात्। पुनः कीदृशीमित्यपेक्षायामाह सखीसहस्रैः परिसेवितामिति। अत्र सहस्रपदमनन्तवाचकम् सखीनां दिव्यपरिचारिकानां सहस्रैःपरिमितैः परिसेविताम् परितः समन्तात्सेवि-ताम्।

ननु प्राकृतानां नरेन्द्राणामपि राज्ञ्यस्तादृश्यः स्युरस्याः को वा विशेष इत्याशङ्कायां विशेषमाह देवीमिति। देवस्य गायत्रीमन्त्रप्रति-पाद्यस्य श्रीकृष्णस्य पत्नी देवी तां--

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।।
स्वरूपात् द्विभुजा चित्रवसनाभरणान्विता।।

इतिगोपालतापिनीमन्त्रात्।

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका कृष्णदेवता।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिसम्मोहिनी परा।।इति।।

पुनस्तत्रैव यथा राधिका तथा रमापि भवति ''श्रियं देवीमुपास्मह'' इत्यादिश्रुतेरित्येवं योगवृत्त्या चोभयोर्देवीत्वमुपपद्यत एव। ननु ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिदेवपत्नीनामपि देवीत्वमस्त्येवातस्ता एव किं न स्मरणीया इत्याशङ्क्य तास्वतिव्याप्तिं वारयन्नस्याः सर्वोत्कृष्टत्वमाह सकलेष्टकामदामिति सकलेभ्यश्चतुर्विधभक्तेभ्यः पुरुषार्थचतुष्टयन्तत्तदिच्छानुसारेण ददातीति तथा तां--

राधया सहितं कृष्णं यः पूजयति नित्यशः।
भवेद्भक्तिर्भगवति मुक्तिस्तस्य करे स्थिता।।

इति पञ्चरात्रवचनात्। यद्वा सकलेभ्यो ब्रह्मादिस्थावरान्तेभ्यो भूतेभ्यः सृष्टिस्थितिलयात्मकं तत्तदभीष्टं ददातीति तथा तां लीलास्वरूपत्वात्कृष्णशक्तित्वाच्च सर्वेषु व्याप्ता सर्वेषां फलदातृत्वमस्या नाश्चर्य्यमित्यर्थः। तथा रमापि--

यज्ञविद्या महाविद्या गुह्यविद्या च शोभने।
आत्मविद्या च देवी त्वं विमुक्तिफलदायिनी।।

इति स्मृतेः। सत्यभामापि तथैव भूदेवीस्वरूपत्वात्सर्वकामदेत्यर्थः। यस्मादेवं तस्माद्राधिकारुक्मिणीसत्यभामाविशिष्टः पुरुषोत्तमः श्रीकृष्ण एव सदोपासनीयः सांप्रदायिभिर्वैष्णवैर्द्विभुजश्चतुर्भुजो वा स्वस्वप्रीत्यनुरूपेण तस्यैवोभयविधरूपत्वन्नात्र तारतम्यभावः ध्यातृभावनाया एवात्र नियामकत्वात् तथा च--

मथुरायां विशेषेण मां ध्यायन् मोक्षमश्नुते।

इत्यारभ्य--

श्रीवत्सलांञ्छनं हृत्स्थकौस्तुभप्रभया युतम्।।५।।
चतुर्भुजं शंखचक्रशार्ङ्गपद्मगदान्वितम्।
हिरण्मयं सौम्यतनुं स्वभक्तायाभयप्रदम्।।
ध्यायेन्मनसि मां नित्यं वेणुशृङ्गधरं तु वा। इति।

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्।।

इत्युभयविधस्यापि ध्यानस्य मोक्षहेतुत्वश्रवणादुभयस्य तुल्यफल-त्वाद्ध्येयत्वाविशेष इति संप्रदायराद्धान्तः।।

इतिश्रीलघुमञ्जूषायां पदार्थरत्नसंग्रहो नाम
प्रथमकोष्ठिका समाप्ता।

भगवान् श्रीकृष्ण के वामाङ्ग में-वृषभानुजां श्रीराधिका का सदा-सर्व काल में अथवा सर्वावस्था में हम स्मरण करते हैं। तु शब्द से रमा (लक्ष्मी) सत्यभामा का ग्रहण है। तु=पुनः श्रीकृष्ण के वामभाग में रमा तथा सत्यभामा का हम स्मरण करते हैं। एवं सम्पूर्ण विशेषण तीनों देवियों के हैं ऐसा वैष्णवों को समझ लेना चाहिये। कैसी है वह? इस प्रकार आकाङ्क्षा से कहते है मुदा=निरतिशय आनन्द मूर्ति से-विराजमानाम्-विशेषण स्वरूप से अथवा विग्रह से प्रेम कारुण्यादि गुणों से दीपित है उसको जैसा ऋक् परिशिष्ट श्रुति में कहा है--राधया माधवो देवो माधवेन च राधिका विराजते।

राधा सहित माधव देव, माधव सहित राधिका विराजमान है। इस वाक्य में माधव शब्द से रमा का, एवं चकार से सत्यभामा का भी नित्य सम्बन्ध सूचित होता है।

पुनः कैसी--अनुरूप सौभगाम्-भगवान् श्रीकृष्ण के सदृश सौभगाम्-शोभन ऐश्वर्य वाली श्रीकृष्णात्मिका होने से उनकी शक्ति होने से उनके गुण ऐश्वर्यादि वाली श्रीराधिका है। जैसा ब्रह्माण्डपुराण में कहा है। श्रीराधिका कृष्णात्मिका है श्रीकृष्ण राधात्मक है।

जैसा गौतमीय तन्त्र में कहा है--पुरुष कृष्ण सर्वात्मा है-श्रीराधाजी उनकी शक्ति है एवं सर्वदेवस्वरूपा है वर से अभयता प्रदान करने वाली है। सर्व देवताओं के द्वारा सेवित है। वैसे रमा भी वैसी ही है जैसा गोपालोत्तर तापनी मन्त्र में कहा है। रुक्मिणीजी कृष्णात्मिका है मूल प्रकृति स्वरूपा है। व्रजस्त्री जनों में संभूता-श्रीराधिकाजी श्रुतियों द्वारा ब्रह्म से सम्बन्धित है।

पुनः कैसी ? ऐसी आकांक्षा से कहते हैं--सखीसहस्रैः परिसेविता-मिति। यहां सहस्र पद अनन्त का वाचक है। अमित दिव्य सेविकाओं से सेवित हैं। सम्यक्।

शङ्का--प्राकृत (साधारण) राजाओं की रानियां भी वैसी हैं,

इसकी (राधाजी की) कौनसी विशेषता है ऐसी शंका होने पर विशेषता कहते हैं-''देवीम् इति गायत्री मन्त्र के प्रतिपादित देवता श्रीकृष्ण की पत्नी-देवी श्रीराधिकाजी, जैसा गोपालतापनी मन्त्र में कहा है-कृष्णमयी देवी श्रीराधिका परदेवता कही गयीं हैं। स्वरूप से द्विभुजा हैं विचित्र वस्त्र एवं भूषणों से युक्त हैं।

पुनस्तत्रैव- पुनः गोपालतापिनी में कहा है-श्रीकृष्ण ही जिसके देवता हैं ऐसी राधिका देवी कृष्णमयी कही गयी है सर्व लक्ष्मीमयी, सर्व-कान्तिमयी-सम्मोहन करने वाली सर्वोत्कृष्टा हैं। जैसे राधिका तथा रमा भी है। श्रियं देवीमुपास्महे'' इत्यादि श्रुति है। इस तरह से योगवृत्ति से दोनों में (राधा तथा रमा में) देवीत्व उपपन्न होता है।

शङ्का--ब्रह्मा शिवादि पत्नियों में भी देवीत्व धर्म विद्यमान है अतः उनका स्मरण क्यों न किया जाये ऐसी शंका करके, उनमें अतिव्याप्ति वारण के लिये-इसकी (राधा की) सर्वोत्कृष्टता को कहते हैं-सकलेष्टकामदामिति। धर्मार्थ काम मोक्षार्थो-चार प्रकार के भक्तों को चार पुरुषार्थों को, उनकी इच्छा अनुसार देने वाली श्रीराधिकाजी हैं। जैसा कि पञ्चरात्र का वचन है-जो राधिका सहित श्रीकृष्ण का नित्य पूजन करता है उसकी भगवान् में भक्ति होती है एवं मुक्ति उसके हाथ में आजाती है।

यद्वा-सम्पूर्ण ब्रह्मादि स्थावर पर्यन्त भूतों को सृष्टिस्थितिलयात्मक तत् तत् अभीष्ट को देने वाली लीला स्वरूप होने तथा श्रीकृष्ण की शक्ति होने से सम्पूर्ण में व्याप्त है, अतः सर्व को फलदातृत्व इसके लिये आश्चर्य नहीं है। ऐसे ही रमा भी हैं-स्मृति में कहा है-

हे शोभने? आप यज्ञविद्या-महाविद्या, गुह्यविद्या स्वरूपा है, एवं विमुक्ति फल के देने वाली आत्मविद्या हैं। सत्यभामा भू-देवी स्वरूप होने से वैसे ही सर्वकामदा हैं। जिस कारण से ऐसा है तस्मात्-इस हेतु साम्प्रदायिक वैष्णवों को श्रीराधिका रुक्मिणी सत्यभामा विशिष्ट पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की ही सदा उपासना करनी चाहिये वह चाहे द्विभुजयुक्त हो अथवा चतुर्भुज विशिष्ट हो स्वस्वप्रीतियुक्त उनकी उपासना करनी चाहिये उभय स्वरूप उसके होने से न्यूनाधिक भाव नहीं है उपासना में ध्यानकर्त्ता की भावना ही प्रयोजक होती है। जैसा कि गोपालोत्तरतापनी में कहा है-मथुरा में विशेष रूप से मेरा

ध्यान करने वाला मोक्ष को प्राप्त करता है-यहां से आरभ्य करके श्रीवत्सचिह्न से युक्त हृदय में कौस्तुभ प्रभासंयुक्त, चतुर्भुज शंख चक्रादियुक्त, हिरण्यमय सौम्य वपु वाले स्वभक्तों को अभय प्रदान करने वाले, मेरे ऐसे स्वरूप का ध्यान करें। अथवा वेणु एवं शृंग को धारण करने वाले कमल नयन मेघश्याम विद्युत्सम वस्त्र (पीताम्बर धारण करने वाले) का ध्यान करे। दोनों प्रकार का ध्यान मोक्ष का हेतु है। दोनों स्वरूपों को समफल वाले होने से एवं ध्येय सामान्य होने से किसी स्वरूप की भी उपासना मोक्षप्रद एवं भक्तिप्रद है ऐसा सम्प्रदाय का सिद्धान्त है।

(ज्ञातव्य गोपालोत्तरतापनी के श्लोक बृहद् मञ्जूषा में क्रम से दिये है विशेष रूप से उसका अवलोकन करना चाहिये)

उक्तसिद्धान्ते विधिमाह--

उक्त सिद्धान्त में विधि को कहते हैं।

उपासनीयं नितरां जनैः सदा प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेः।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तं श्रीनारदायाऽखिलतत्त्वसाक्षिणे।।६।।

अज्ञानरूप तम की अनुवृत्ति-सम्बन्ध के विच्छेदार्थ, पूर्वोक्त ईश्वर तत्त्व की सदैव व्यवधानशून्य, प्राणिमात्र को उपासना करनी चाहिये। इस बात का सम्पूर्ण तत्त्व के साक्षी श्रीनारद मुनिजी को सनकादिजनों ने उपदेश दिया है।।६।।

उपासनीयमिति। मुमुक्षुभिर्जनैरुक्तलक्षणं श्रीकृष्णरूपं परं ब्रह्म सदोपासनीयं विध्यर्थकेतव्यप्रत्ययस्थानेऽनीयर्प्रत्ययः "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य आत्मानमेव लोकमुपासीत तस्मात्कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्तं रसयेत्तं भजेदि"-त्यादिविधिश्रवणात्। सदेति कालविच्छेदं निराकरोति।

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा।।
स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित्।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः।।

इत्यादिस्मरणात्। दिवसे दिवसे सकृत् सकृत् कृतस्यावच्छेदकः कालः सदा तद्वारणायाह नितरामिति। गङ्गादिप्रवाहवत्क्षणाद्यपरिच्छेदेन।

यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते।

सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिः सा च विक्रिया।

इति वचनात्। एतेन स्मृतिसन्धानस्यापरिच्छिन्नत्वं विधीयते तथा च श्रुतिः-''आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः''। जनशब्देन श्रीकृष्णोपासनस्याधिकारिसाधारण्यं सुचितं यस्मादस्योपासने सर्वेषां ब्रह्माद्यन्त्यजातानामधिकारः। तत्र वैदिकोपासने तु त्रैवर्णिकोऽधिकरोति पौराणिके शुद्रान्त्यजादयोऽपीति विवेकः।

उपासनप्रयोजनमाह प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेरिति। अज्ञानतमोऽनुवृत्तेः प्रहाणये इति योजना। अनादिकर्माख्याज्ञानमेव तमः स्वरूपादितिरोधानस्वभावकत्वात् तस्यानुवृत्तिः सम्बन्धः श्रीकृष्णप्राप्तिप्रतिबन्धकस्तस्याः प्रहाणये ध्वंसायेत्यर्थः। ''स्मृतिलाभे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष'' इति श्रवणात् ''अनन्याश्चिन्तयन्तो मां, तेषामेवानुकम्पार्थ''मित्यादि-भगवद्वचनाच्च।

ननु ''यद्वाचा नाभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासत'' इत्यादिश्रुतेरुपासनाविषयस्य ब्रह्मत्वनिषेधात् कथमिवोपासनाविधानं कथंतरां च ब्रह्मण उपास्यत्वमित्याशङ्कानिरासार्थं स्वसम्प्रदायसन्ततिं प्रमाणयन्सम्प्रदायस्यानादित्वं वैदिकत्वं चाह भगवानाद्याचार्यः सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तमिति। सनन्दनाद्यैर्भगवदवतारैर्मुनिभिः मननस्वभावैस्तथा पूर्वोक्तरीत्योक्तं कथितम्। सनन्दनाद्यैरित्यनेन भगवदवतारत्वेन तेषामुपदेशस्यापि प्रमाणान्तरनैरपेक्ष्यं सूचितम्। मुनिभिरित्यनेन प्रमादादिरहितत्वात् तेषामाप्ततमत्वमुक्तम्। कस्मै इत्यपेक्षायामाह श्रीनारदायेति। अस्मद्गुरवे इत्यर्थः। तेनैव मह्यं यदुपदिष्टं तदेवात्रोक्तं मयापीति शेषः। कीदृशायेत्यपेक्षायामाह अखिलतत्त्वसाक्षिणे इति। सर्वतत्त्वविषयकप्रत्यक्षानुभवाश्रयभूताय सर्वज्ञाय सर्वदार्थरूपश्रीपंचरात्रप्रवर्त्तकायेत्यर्थः। ननु ''सोऽहं भगवः शोचामि ते मां शोकस्य पारं दर्शयत्वि''त्यादेस्तस्यैव वचनेन नारदस्य शोकाश्रयत्वश्रवणात् कथं सर्वज्ञत्वमिति चेन्न। उपदेशोत्तरकालीनत्वादाद्याचार्याणां वाक्यस्य श्री-

नन्दनादिचरणोपसत्तेः प्राक् शोकवत्त्वेऽपि श्रीभगवद्गुरूपदेशेन सकारण-निवृत्त्या सर्वज्ञतासिद्धेरित्यर्थः विस्तरस्तु बृहन्मञ्जूषायां द्रष्टव्यः।।६।।

उपासनीयमिति–मुमुक्षुजनों के द्वारा–पूर्वोक्त लक्षण वाले श्रीकृष्ण रूप परब्रह्म की सदा उपासना करनी चाहिये। उपासनीयम् में विधि में अनीयर् प्रत्यय तव्यप्रत्यय के स्थान में हुआ। श्रुति के साथ उक्त श्लोक का समन्वय है। उसका अन्वेषण करना चाहिये–जिज्ञासा करनी चाहिये। इत्यादि।

गोपालतापनी का वचन उद्धृत करते हैं–श्रीकृष्ण ही परदेव है–उनका ध्यान करे, रस ले एवं यजन करें इत्यादि वाक्यों में विधि का श्रवण होता है। सदा शब्द काल व्यवधान का निराकरण करता है–स्मृति वाक्यों का उद्धरण देते हैं। सर्वशास्त्रों का आलोडन करके एवं पुनः पुनः विचार करके यह निश्चय किया कि नारायण का सदा ध्यान करना चाहिये। विष्णु का सदा स्मरण करना चाहिये, कभी भी विस्मरण नहीं करना चाहिये। सम्पूर्ण विधि तथा निषेध इन दोनों के दास है।

दिवसे दिवसे सकृत् सकृत् कृतस्यावच्छेदकः कालः सदा शब्द वाच्यः तद्वारणायाह–नितरामिति। दिन–दिन में बार बार कृत का अवच्छेद काल भी सदा शब्द का वाचक है। (अर्थात् जो व्यक्ति किसी काम को पुनः पुनः करता है वहां सदा शब्द का प्रयोग होता) उसके निवारण के लिये–नितराम्'' निरन्तर करना चाहिये इस शब्द का प्रयोग है गंगादि के प्रवाह के समान व्यवधान रहित स्मरण करना चाहिये। जिस मुहूर्त में अथवा क्षण में वासुदेव का स्मरण नहीं होता यही महाहानि है एवं महादोष और भ्रान्ति है एवं विक्रिया है। इससे स्मृति सन्धान का अपरिछिन्नत्व विधान किया है (अर्थात् निरन्तर भगवान् का स्मरण ही भक्ति शब्द का वाच्य है उसी का नाम ध्रुवा स्मृति है) इसी बात को श्रुति से सिद्ध करते है––''तथा च श्रुतिः'' आहार शुद्धौ'' शब्दादि विषय रूप आहार की शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। अन्तःकरण शुद्धि से ध्रुवा स्मृति होती है। जन शब्द के द्वारा श्रीकृष्ण उपासना का अधिकारी साधारण सूचित किया जिस कारण से इस उपासना में ब्रह्मा से अन्त्यजान्त का अधिकार है अतः सभी को उपासना करनी चाहिये। वैदिक उपासना में त्रैवर्णिक का अधिकार है पौराणिक उपासना में शूद्र अन्त्यजादि का भी अधिकार है ऐसा भेद है।

उपासना के प्रयोजन (फल) को कहते हैं-प्रहाणयेऽज्ञान तमोऽनुवृत्ते-रिति अज्ञानरूपतम की अनुवृत्ति सम्बन्ध के नाश के लिये-ऐसी योजना है। आत्मस्वरूपादि के तिरोधान के स्वभाव वाला होने से अनादि कर्म रूप अज्ञान ही तम है। उसका सम्बन्ध श्रीकृष्ण प्राप्ति का प्रतिबन्धक है उसके नाश के लिये भगवदुपासना है। जैसा श्रुति में कहा है-ध्रुवास्मृति का लाभ होने पर सम्पूर्ण ग्रन्थियों का नाश होता है। गीता में भगवान् ने कहा है-जो मेरा अनन्य भाव से चिन्तन करते हैं। उनके योग (अप्राप्त की प्राप्ति) क्षेम (प्राप्त का रक्षण) मैं वहन करता हूँ।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयात्म्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता। उनके अज्ञानरूपतम का ज्ञानदीप के द्वारा नाश करता हूँ।

शंका करते हैं कि श्रुति कहती है--जिसको वाणी के द्वारा नहीं जाना जाता। जिसके द्वारा वाणी जानती है-वह ब्रह्म है। जिसकी उपासना करते हो वह ब्रह्म नहीं है। इस श्रुति ने उपासना के विषय को ब्रह्मत्व का निषेध किया है। आपने उपासना का विधान कैसे किया? और ब्रह्म कैसे हुआ। इस शंका के निवारणार्थ स्वसम्प्रदाय संतति को प्रमाणित करते हुये सम्प्रदाय को अनादि एवं वैदिक सिद्ध करते हुये-भगवानाद्य निम्बार्काचार्य कहते हैं-''सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तमिति''

सनन्दनादि भगवदवतारों द्वारा-मुनिभिः=मनन स्वभाव वालों के द्वारा पूर्वोक्त रीति से कहा गया। सनन्दनाद्यैः इस शब्द के द्वारा यह सूचित किया कि इनको भगवदवतार होने से इनके उपदेश को प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं है (नन्दयतीति नन्दनः श्रीकृष्णः तेन सहवर्तते इति सनन्दनः) मुनिभिः इस पद के प्रयोग से यह सूचित होता है कि इनके अन्तःकरण में प्रमादादि दोष नहीं है अतः यह यथार्थ वक्ता है। किस के लिये कहा? नारदाय इति हमारे गुरुदेव के लिये। श्रीनारदजी ने मेरे को जो उपदेश दिया वह हमने कहा। कैसे नारदजी के लिये? अखिलतत्वसाक्षिणे-इति सर्व तत्त्व विषयक प्रत्यक्षानुभव के आश्रय भूत सर्वज्ञ के लिये सर्व वेदार्थ रूप पंचरात्र ग्रन्थ के प्रवर्तक के लिये।

शङ्का--सोऽहं '' इस वचन से नारदजी शोकाश्रय ज्ञात होते हैं वह सर्वज्ञ कैसे? समाधान-आचार्यचरणों का कथन-सनकादियों के उपदेश

के उत्तर काल को बोधन करता है श्रीनन्दनादि की शरणागति के पूर्व काल में शोकाश्रयत्व होने पर भी भगवद् स्वरूप श्रीसद्गुरुदेव के उपदेश से-शोक के कारण अज्ञान की निवृत्ति से सर्वज्ञता की सिद्धि होती है। इसका विशेष विचार तो बृहन्मञ्जूषा में अवलोकन करना चाहिये।

विशेष वक्तव्य--यद्वाचाऽनभ्युदितम्'' इस श्रुति के द्वारा नामादि प्रतीकोपासना के विषय को ब्रह्मत्व का निषेध है न कि श्रीकृष्ण उपासना को-क्योंकि भूमा विद्या में ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण तत्त्व का निरूपण है उसके द्वारा शोक की निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति का विशुद्ध निरूपण है-श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी ने श्रुतियों का समन्वय द्वैताद्वैत सिद्धान्त के अनुसार किया है-विशेष रूप से इस प्रकरण का जिज्ञासु को अवलोकन करना चाहिये।।

इत्थं ताव''तत्त्वमसि सर्वं खल्विदं ब्रह्मे''त्यादिवाक्यवृत्तितत्त्व-मादिपदार्था निरूपिताः तत्र ज्ञानस्वरूपमित्यादिश्लोकद्वयेन त्वंपदार्थः, अप्राकृतमित्येकेनेदंपदार्थः स्वभावतोऽपास्तेत्यादियुग्मेन तत्पदार्थश्च व्याख्यातः। उपासनीयमित्येकेन तत्पदार्थस्य सर्वोपास्यत्वं तदुपासनस्य विधेयत्वं च प्रतिपादितमिदानीमुक्तोपासनस्य निदिध्यासनाख्यस्यान्तरङ्ग श्रोतव्यादिश्रुतिविधेयं वाक्यजन्यं ज्ञानं निरूपयन् तत्त्वमस्यादेर्वाक्यस्यार्थ-माह--

इस प्रकार से ''तत्त्वमसि'' सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' इत्यादि वाक्य में होने वाले तत् त्वमादिपदों के अर्थ का कथन किया, वहां पर ''ज्ञानस्वरूपम्'' इत्यादि श्लोक द्वय से त्वम् पदार्थ का व्याख्यान किया। ''अप्राकृतम्'' इस एक श्लोक से इदं पदार्थ का निरूपण किया। ''स्वभावतोऽपास्तेत्यादि'' दो श्लोकों से तत् पदार्थ (ईश्वर तत्त्व) का निरूपण किया। उपासनीयम्'' इस एक श्लोक से तत् पदार्थ सर्वोपास्य है और उसकी उपासना विधेय (विधि प्रतिपाद्य) है ऐसा प्रतिपादन किया अब-निदिध्यासन स्वरूप पूर्वोक्त उपासना का अन्तरङ्ग श्रोतव्यादि श्रुति से विधेय वाक्य जन्य ज्ञान का निरूपण करते हुये तत्त्वमस्यादि के नाक्यार्थ को कहते हैं--

**सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं त्रिरूपताऽपि श्रुतिसूत्रसाधिता।।७।।**

सम्पूर्ण वस्तु को ब्रह्म स्वरूप होने से श्रुति तथा स्मृति से सकल वस्तु का होने वाला विशेष ज्ञान यथार्थ है ऐसा वेद वेत्ताओं का मत है। (यद्यपि ब्रह्मात्मक होने से सर्व वस्तु अभिन्न है तथापि उसकी भोक्ता भोग्य प्रेरकता रूप त्रिरूपता भी श्रुति सूत्र से सिद्ध है कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मस्वरूपत्वेनाभेद एवं भोक्तृत्वादि स्वरूपत्वेन भेद भी श्रुति सूत्र सिद्ध है।

सर्वं हीति। हि यस्मात्कारणात् निखिलस्य क्षेत्रक्षेत्रज्ञप्रकृतिपुरुष-क्षराक्षरादिशब्दाभिधेयस्य चेतनाचेतनरूपसर्वस्य ''प्रधानक्षेत्रज्ञपति''रिति श्रुतेः।

प्रकृतिं पुरुषं चैवं विद्ध्यनादी उभावपि।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं,
द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।।

इत्यादिस्मृतेः वस्तुनः सन्नित्यभावादिपर्यायस्य पदार्थस्येत्यनेना-वस्तुत्वासत्यत्वमिथ्यात्वादिपक्षो दूरतः परिष्कृतः ''नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां गौरनाद्यन्तवती जनित्री भूतभावनां सितासिता च रिक्ता चे''दित्यादिश्रुतेः। श्रुतिस्मृतिभ्यः श्रुतिस्मृतिसूत्रेभ्यः ''एष सर्वभूतान्तरात्मा एष ते आत्मान्तर्याम्यमृतं'' इत्यादिश्रुतिः,--

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च

इत्यादिस्मृतिः ''आत्मेत्युपगच्छन्ति ग्राहयन्ति चे''त्यादिसूत्रं चेत्यादिभ्योऽनेकप्रमाणेभ्यः ब्रह्मात्मकत्वात् तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्, ''एष मे आत्मान्तर्यामी एष ते आत्मान्तर्यामी सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं''--

अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः।
अहं भवो भवन्तश्च सर्वे नारायणात्मकाः।।
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः।
वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च।।

इत्यादिभ्यः। अतः हेतोः सर्वचेतनाचेतनरूपविश्वविषयकं विज्ञानं विशेषज्ञानं ''सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं, आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् तत्त्वमसि अयमात्मा ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि आत्मैवेदं सर्वं

सर्वमिदं ब्रह्म त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि देवते यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह सश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः तदात्मानमेव वेदाहं ब्रह्मास्मीति सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि, एकः समस्तं यदिहास्ति किञ्चित्तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत्। सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतदात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम्।।

अहं भवो भवन्तश्च सर्वे नारायणात्मकाः।

यदा समस्तदेहेषु पुमानेको व्यवस्थितः।।

तदा को भवान् कोऽहमित्येतदफलं वचः तदनन्यत्वमारम्भण-शब्दादिभ्य अधिकं तु भेदनिर्देशाच्चान्यः, अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके उभयव्यपदेशादहिकुंडलवदि''त्यादि-श्रुतिसूत्रप्रतिपादितं यथार्थकं यथार्थवस्तुविषयकत्वाद्यथार्थकं भवतीत्यर्थः।

ननु यदि सर्वं वस्तुमात्रं ब्रह्मैव स्यात्तर्हि ब्रह्मव्यतिरिक्तयोश्चेतना-चेतनपदार्थयोरभावात्तत्त्वत्रयस्याग्रहं त्यक्त्वा सर्वं वस्तुमात्रमित्येकं ब्रह्मैव सत्यमिव कथं नोच्यते इत्याशङ्कायां श्रुत्यादिप्रमाणेन तत्त्वत्रयस्य सत्यत्वप्रतिपादनेन स्वसिद्धान्तमाह त्रिरूपतापीति। अपिशब्दश्चार्थकः च पुनः त्रिरूपता भोक्तृभोग्यनियन्तृरूपता यथार्थैव। कुत इत्यपेक्षायां हेतुगर्भितविशेषणमाह श्रुतिसूत्रसाधितेति। सूत्रैर्निर्णयासाधारणप्रमाणभूतैः साधिता निर्णीता यतः श्रुतिसूत्रसाधितत्वं त्रिरूपतायाः अस्ति तस्मात्त्रि-रूता यथार्थैवेत्यर्थः। तथा च श्रुतयः-''भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन, सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतदि''त्याद्याः। सूत्राणि च ''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा जन्माद्यस्य यतः' इत्यादीन्यन्यान्यप्यनुसन्धेयानि जिज्ञासुजिज्ञासाजिज्ञास्यरूपत्रिरूप-त्वप्रतिपादनपरत्वादुक्तसूत्रस्यैवमन्यदप्यनुसन्धेयम्। तत्राप्ततमानां प्रमाणमाह इतिवेदविन्मतमिति। इत्येवं प्रकारेण ब्रह्मात्मकत्वतदापत्ति-स्थितिप्रवृत्तिकत्वतद्व्याप्यत्वेभ्यो ब्रह्माभिन्नत्वात्। त्रिरूपत्वश्रवणस्मर-णाभ्यां स्वरूपेण भिन्नत्वाच्च ब्रह्मभिन्नाभिन्नं चेतनाचेतनात्मकं विश्वमिति वेदविदां श्रीसनत्कुमारनारदव्यासादीनां मतं निर्णीतं सिद्धान्त इत्यर्थः। किं च यद्वस्तु यदात्मक भवति तत्तस्मादभेदार्हमित्याम्नायते छान्दोगैः प्राणसम्वादने 'वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसीत्याचक्षते प्राण

इत्याचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवती'त्यादिना। अपि च 'यो यद्व्याप्यः स तद्रूपो भवति,

योऽयं तवागतो देव समीपे देवतागणः।
स त्वमेव जगत्स्रष्टा यतः सर्वगतो भवान्।।

सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व' इत्यादिस्मृतेः। किञ्च विश्वात्मा पुरुषोत्तमः स्वाश्रितस्वतन्त्रसत्तया विश्वस्मादभिन्नः सार्वज्ञादिवद्भावरूपेण परतन्त्रसत्ताभावरूपधर्मेण च विश्वस्माद्भिन्नः, एवं च पुरुषोत्तमादपृथक्-स्थितप्रवृत्तिकत्वेन चेतनाचेतनात्मको विश्वाऽभिन्नः स्वसाधारणधर्मेण परतन्त्रसत्तारूपेण भिन्न इत्येवं विश्वभिन्नाभिन्नः पुरुषोत्तमो भगवान् परब्रह्मभूत इति सिद्धान्तः। किञ्चैवमेव तत्पदार्थो विश्वात्मा पुरुषोत्तमः त्वम्पदार्थश्च क्षेत्रज्ञान्तरात्मा तयोरभेदो घटो द्रव्यं पृथिवी द्रव्यमित्यादि-वन्मुख्य एवातो युक्तियुक्तसिद्धान्तस्य साधीयस्त्वम्।

ननु तत्पदार्थो विश्वात्मा पुरुषोत्तम इति निर्विवादत्वान्नात्र शङ्कावकाशः, परन्तु त्वम्पदार्थस्य क्षेत्रज्ञतया सुप्रसिद्धत्वात्कथं क्षेत्रज्ञान्तरात्मत्वं प्रतिपाद्यत इति चेदुच्यतेऽवहितमनस्त्वेन श्रूयतां-यथाग्नेर्ढगित्यत्राग्निशब्द अकाराद्यवच्छिन्नानुपूर्वीकाग्निशब्दवाचकः अग्नौ जुहोतीत्यत्र स एवाग्निशब्दो दहनप्रकाशनादिशक्त्यवच्छिन्नवस्तुविधायकः इत्येवमुभयार्थविधायकत्वमग्निशब्दस्य शक्यत्वेन मुख्यमेवेति शाब्दिकानां मतं तथैवौपनिषदानां सिद्धान्ते सर्वेषामपि ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिचेतनाचेतनवस्तु-मात्रपराणां शब्दानां तत्तत्पदार्थवाचकत्वेऽपि तत्तदात्मभूतब्रह्मपरत्वमविरुद्धं ब्रह्मणः सर्वात्मत्वात्। यथा च चतुर्मुखादिपिण्डाश्चतुर्मुखादिशब्दानां शक्यास्तदवच्छिन्नास्तत्तच्चेतयितारश्चोभयेऽपि चतुर्मुखादिशब्दैर्विधातुं सुशक्यास्तथा चतुर्मुखादिपिण्डतत्तदवच्छिन्नक्षेत्रज्ञाभिधानपरत्वेऽपि तेषा-मन्तरात्मत्वादब्रह्माभिधानपरत्वं वस्तु सुशकमिति भावः। एतदभिप्रेत्य वस्तुजातस्य ब्रह्मत्वमुद्घोषयन्ति श्रुतयः 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वम्प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेत'दित्याद्याः। ''नामानि सर्वाणि यमाविशन्ति सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती''त्यादिश्रुतीनामप्युक्तसिद्धान्ते प्रमाणत्वात्। किञ्च सर्वश्रुतिमूलभूता गायत्र्यप्युभयप्रकारतां प्रतिपादयति तथा हि देवशब्दाभिधेयस्य पुरुषोत्तमस्य सर्वनियन्तृत्वात् स्वतन्त्रसत्ताश्रयत्वं

अस्मच्छब्दाभिधेयानां चेतनानां धीशब्दोपलक्षितस्याचेतनवस्तुनश्च तन्नियम्यत्वाभिधानात्परतन्त्रसत्ताश्रयत्वमिति विश्वभिन्नाभिन्नं ब्रह्म सर्ववेदान्तार्थः सिद्धः। एवं सर्वेषामपि विश्वभिन्नाभिन्नं ब्रह्म सर्ववेदान्तार्थः सिद्धः एवं सर्वेषामपि वाक्यानां स्वार्थे शक्तिवृत्त्यैव प्रामाण्यान्न विरोधशङ्कावकाशः। एतेनैव 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादिवाक्यान्यपि व्याख्यातानि भवन्ति तुल्ययोगक्षेमत्वात्तेषामलं विस्तरेण।

इति श्रीलघुमञ्जूषायां वाक्यार्थरत्नसंग्रहो नाम
द्वितीया कोष्ठिका समाप्ता।

सर्वंहीति। हि-यस्मात्-जिस कारण से निखिलस्य-क्षेत्र क्षेत्रज्ञ प्रकृति पुरुष क्षर अक्षरादि शब्द का वाच्य चेतनाचेतन एवं वस्तु को सत् नित्य-भावादि पर्याय रूप होने से नित्यता है अतः सम्पूर्ण वस्तु का विशेष ज्ञान भी यथार्थ है अयथार्थ नहीं है। वस्तु शब्द का प्रयोग होने से असत्य मिथ्यात्वादि पक्ष का बहिष्कार हो जाता है इसमें श्रुति प्रमाण है-प्रधानक्षेत्रज्ञ-पति गुणेशः। गीता वचन उद्धृत करते है-प्रकृतिपुरुष दोनों अनादि है, क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानम्" इस लोक में दो पुरुष है-क्षर तथा अक्षर। वह नित्यों का नित्य तथा चेतनों का चेतन है। प्रकृति-आदि अन्त शून्य, भूत.भावों की जननी सत्त्व रज तमो स्वरूपा है। मूल श्लोक में-श्रुतिस्मृतिभ्यः= श्रुतिस्मृतिसूत्रेभ्यः-अर्थात् श्रुति स्मृति तथा सूत्र से सिद्ध है। एष सर्वभूतान्तरात्मा यह श्रुति प्रमाण है। गीता स्मृति प्रमाण से भी यह बात सिद्ध है-हे गुडाकेश? मैं आत्मारूप से सम्पूर्ण भूतों के अन्तःकरण में विराजमान हूँ। सूत्र प्रमाण देते हैं-आत्मेत्युपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च। ब्र.सू. ४/१/३। परमात्मा अंश स्वरूप जीव का अंशी है मैं तदात्मक हूँ-उसके विना स्थिति प्रवृत्ति रहित हूँ ऐसा आचार्य लोग जानते हैं और शिष्यों को (तत्त्वमसि) इत्यादि के द्वारा ग्रहण कराते हैं। इससे भेदाभेद सिद्धान्त की सिद्धि होती है।

इत्यादि अनेक प्रमाणों से-ब्रह्मात्मकत्वात्-ब्रह्म आत्म यस्य इति-ब्रह्म है आत्मा जिसकी चेतनाचेतन वस्तु समुदाय की-तदात्मक होने से पूर्वोक्त तथ्य की सिद्धि के लिये प्रमाणों का संग्रह किया है।

अतः इस कारण से सर्व चेतनाचेतन रूप विश्व विषयक-

विज्ञानम्=विशेषज्ञान यथार्थ वस्तु विषयक होने से यथार्थ है। इस बात को सिद्ध करने के लिये श्रुति स्मृति सूत्र प्रमाणों को उद्धृत किया है।

हे सोम्य! उत्पत्ति से पूर्व यह जगत् सद् (ब्रह्म) स्वरूप था। एक और अद्वितीय था। आत्मा ही एकमात्र सबसे पहले विद्यमान था। वह तुम हो। यह आत्मा ब्रह्म है। मैं ब्रह्म हूँ। आत्मा ही यह सब कुछ है। यह सब (दृश्यमान) ब्रह्म है। तुम और मैं देवता हैं। निश्चय ही मैं और तुम ही देवता हैं। जो यहाँ (सृष्टि में) है वही वहाँ (सृष्टि से पूर्व) है, जो वहाँ है वही यहाँ है। जो ब्रह्म इस लोक में पुरुष में है वही ब्रह्म परलोक में पुरुषनिष्ठ आदित्य में रहने वाला ब्रह्म है। तब मैं आत्मा को ही जानता हूँ। मैं ब्रह्म हूँ। यह सब ब्रह्म है। सब में अचिद् का ग्रहण भी होता है अतः वह ब्रह्म से अभिन्न कैसे हो सकता है-इसीलिए आगे कहते हैं-तज्जलानिति-तज्जलान् का अर्थ है उससे उत्पन्न होता है-तस्माज्जायत इति तज्जं, उससे ही लीन होता है-तस्माल्लीयत इति तल्लं, उसमें ही चेष्टा करता है-तस्मिन्ननिति चेष्टत इति तदनं, इस प्रकार तज्जं, तल्लं च तदनं च तज्जलान्-इस कारण से समस्त ब्रह्म ही है। इस प्रकार उससे उत्पन्न होने, उससे लीन होने और उसमें गतिशील होने के कारण अचिद् भी ब्रह्म से अभिन्न है, कहा गया है क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जानो। जो एक यहाँ है उसे अच्युत ही समझो उससे भिन्न दूसरा कोई नहीं है। वह मैं हूँ, तुम भी वह हो, सब आत्म स्वरूप हैं, भेद के अज्ञान को छोड़ो। अन्यत्र कहा गया है--

मैं (ब्रह्मा) भव (शंकर) और आप सब देव नारायण स्वरूप हैं।

जब समस्त देहों में एक ही पुरुष (आत्मा) स्थित है तब आप कौन हैं? मैं कौन हूँ-यह वचन मिथ्या है।

कार्य जगत् और कारण ब्रह्म में अभेद है-इसमें ब्रह्मसूत्र ''तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः'' २/१/१४ यह सूत्र प्रमाण है।

अर्थात् आरम्भण शब्द आदि हेतुओं से कार्य (जगत्) की कारण (ब्रह्म) से अनन्यता सिद्ध होती है। क्योंकि ''वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमित्येव शब्दादिभ्यः'' छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि हे सोम्य! जैसे मिट्टी के एक ढैले का तत्त्व जान लेने पर मिट्टी से उत्पन्न होने वाले समस्त कार्य जाने हुए हो जाते हैं, उनके नाम और आकृति के

भेद तो व्यवहार के लिए है वाणी से उनका कथन मात्र होता है, वास्तव में तो कार्यरूप में भी वह मिट्टी ही है, इसी प्रकार कार्यरूप में वर्तमान जगत् भी ब्रह्म रूप ही है। इससे सिद्ध हुआ कि कार्य जगत् कारण ब्रह्म से अभिन्न है। अब ब्रह्म से जीव भिन्न है इस अर्थ को सूत्र के द्वारा प्रमाणित करते है– "अधिकं तु भेद निर्देशात्" २/१/२२ किन्तु ब्रह्म जीव नहीं है अपितु उससे अधिक है क्योंकि जीवात्मा से ब्रह्म का भेद बताया गया है। दोनों में भेद यह कि जीवात्मा सुख–दुःख का भोक्ता है, ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न, समान अतिशय शून्य जगत् कारण और सर्वेश्वर होने से जीवात्मा से उत्कृष्ट है। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादि श्रुतियों में जीव और ब्रह्म का भेद बताया गया है। यह उपदर्शित सूत्र का अर्थ है। सूत्र है–"भेदव्यपदेशाच्चान्यः" १/१/२१।। इस सूत्र का अर्थ है कि आदित्य आदि शरीराभिमानी जीवों से परमात्मा भिन्न है। इन दोनों से सिद्ध हुआ कि जीवात्मा और ब्रह्म का भेद है। अब घटक सूत्रों के द्वारा अंश–अंशी रूप से जीव और ईश्वर का भेद और अभेद दिखलाते हैं–सूत्र है–"अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके।।" २/३/४३।। अर्थ–श्रुति में जीवों को अनेक प्रकार का अलग–अलग बताया गया है तथा परमेश्वर का अंश भी कहा गया है। क्योंकि एक शाखा वाले ब्रह्म को दाश–कितव आदि कहकर अध्ययन करते हैं। जीव नाना प्रकार के हैं वे चेतन और नित्य हैं। बद्ध, मुक्त आदि भेद से अनेक प्रकार के हैं। परमेश्वर जगत् कारण है। जीव परमेश्वर के अंश सिद्ध होते हैं। अथर्ववेद की शाखा वालों के ब्रह्मसूक्त में यह पाठ है कि "ब्रह्मदाशाब्रह्मदाशा ब्रह्मैवेमे कितवाः" अर्थात् ये केवट ब्रह्म है, दास ब्रह्म हैं तथा ये जुआरी भी ब्रह्म ही हैं। इस प्रकार जीवों के बहुत्व और ब्रह्मरूपता का भी वर्णन होने से यही सिद्ध होता है कि जीव ईश्वर के अंश हैं। यदि जीवों को परमेश्वर का अंश न मानकर सर्वथा भिन्न तत्त्व माना जाए तो पूर्वोक्त श्रुतियों में ब्रह्म को जगत् का एकमात्र कारण कहा गया है और उन दाश, कितवों को ब्रह्म कहा गया है, उस कथन में विरोध आएगा, इसलिए सर्वथा भिन्न तत्त्व नहीं माना जा सकता। अतः जीव को अंश मानना ही युक्तियुक्त है किन्तु जिस प्रकार साकार वस्तु के टुकड़ों को उसका अंश कहा जाता है वैसे जीवों को ईश्वर का अंश नहीं कहा जा

सकता, क्योंकि अवयव रहित अखण्ड परमेश्वर से खण्ड नहीं हो सकते। अतएव कार्यकारण उचित है तथा वह कार्यकारण भाव भी इसी रूप में है कि प्रलयकाल में अव्यक्त रूप से परब्रह्म परमेश्वर में विलीन रहने वाले नित्य और चेतन जीव, सृष्टिकाल में उसी परमेश्वर से प्रकट हो जाते हैं और पुनः संहार के समय उसी में उनका लय हो जाता है तथा उनके शरीरों की उत्पत्ति भी उस ब्रह्म से ही होती है। इस प्रकार भेद और अभेद प्रतिपादक श्रुतियाँ उपलब्ध होती हैं। इससे जीव ब्रह्म का भेदाभेद सिद्ध होता है। भगवान् सत्रकार (बादरायण) का सिद्धान्त सूत्र इस प्रकार से है-उभय व्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्।।३।।२२७।।

मूर्त्त और अमूर्त्त रूप कार्य (जगत्) ब्रह्म से भिन्न होने पर भी उससे अभिन्न है क्योंकि श्रुतियों में भेद और अभेद का प्रतिपादन किया गया है। ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'' परमात्मा से सभी भूतों की उत्पत्ति होती है। यहाँ ब्रह्म से भूतों का भेद दिखाया गया है। ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' इस श्रुति में जीव से ब्रह्म का अभेद प्रतिपादित किया है-इस विषय में दृष्टान्त देते हैं-''अहिकुण्डलवत्'' सर्प के कुण्डल के समान जिस प्रकार कुण्डल का उपादान कारण रज्जु के आकार वाला सर्प है। यहाँ कार्य कुण्डल आकृति है तथा उसका कारण रज्ज्वाकार सर्प है। उसी प्रकार मूर्त्त-अमूर्त्त रूप विश्व रूपी कार्य का अभिन्न निमित्तोपादान कारण सर्वशक्ति सम्पन्न ब्रह्म है। जैसे कुण्डल (वलय) परतन्त्र है (क्योंकि यदि सर्प रज्जु के आकार को ग्रहण न करें तो कुण्डल नहीं बनेगा) व्याप्य है (व्याप्य व्यापक के अधीन होता है (कुण्डल व्याप्य है सर्प व्यापक है) तथा कार्यरूप है वैसे ही यह जगत् परतन्त्र, व्याप्य तथा कार्य है एवं ब्रह्म सर्प के समान स्वतन्त्र, व्यापक और कारण है। अतः जैसे कुण्डल और सर्प में भेद है वैसे ही जगत् और ब्रह्म में भेद है। इसी प्रकार जैसे सर्प के अतिरिक्त (भिन्न) कुण्डल की न कोई स्थिति है न प्रवृत्ति उसी प्रकार चिद् अचिद् रूप कार्यब्रह्म जगत् की कारण ब्रह्म से भिन्न न स्थिति है न प्रवृत्ति कार्यरूप विश्व के साथ कारण ब्रह्म का स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध है।

ननु यदि सर्ववस्तु मात्र ब्रह्मैवस्यात्

शङ्का--यदि सर्व वस्तु मात्र ब्रह्म ही है, तब ब्रह्म व्यतिरिक्त

चेतनाचेतन पदार्थ का अभाव होने से तत्त्वत्रय के आग्रह का त्याग कर ऐसा क्यों नहीं स्वीकार करते कि वस्तुमात्र एक ब्रह्म ही है वह सत्य है (ऐसा मानने में लाघव है) ऐसी शंका होने पर-श्रुत्यादि प्रमाण से तत्त्वत्रय का सत्यत्व प्रतिपादन से स्वसिद्धान्त को कहते हैं-त्रिरूपतापीति। यहाँ पर अपि शब्द चकारार्थक है-च=पुनः त्रिरूपता-भोक्तृ भोग्य-प्रेरकरूपता भी यथार्थ है। किस कारण से? ऐसी अपेक्षा होने पर हेतु गर्भित विशेषण कहते हैं। श्रुति सूत्र साधितेति। निर्णय के असाधारण प्रमाण रूप सूत्रों से-साधिता=निर्णीता। जिस कारण से श्रुति सूत्र साधिता त्रिरूपता है उस कारण से त्रिरूपता यथार्थ ही है। इस विषय में श्रुतियाँ प्रमाण हैं। ''भोक्ता भोग्य प्रेरिता को जानकर-आनन्दस्वरूप ब्रह्म को जानकर वह किसी से डरता नहीं, यह सर्व त्रिविध ब्रह्म ही है। यह त्रिविध सर्व ब्रह्म कहा गया है इत्यादि सूत्र-अथातो ब्रह्मजिज्ञासा १/१/१। जन्माद्यस्ययतः'' यह सूत्र है। प्रथम उपक्रम सूत्र है द्वितीय लक्षण सूत्र है। और भी सूत्र अनुसन्धेय है।

प्रथम सूत्र--जिज्ञासु जिज्ञासा जिज्ञास्य रूप त्रित्वप्रतिपादन परक है। (ऐसा भाष्यकार श्रीश्रीनिवासाचार्यजी का मत है) एवं और भी अनुसन्धेय है। वहाँ पर आप्ततमों को प्रमाण कहते हैं-इति वेद विन्मतमिति-इस प्रकार से ब्रह्मात्मकत्व-तदापत्तिस्थिति प्रवृत्तिकत्व-ब्रह्माधीन स्थिति प्रवृत्तिकत्व-ब्रह्मव्याप्यत्व-इससे ब्रह्म से अभिन्न होने से, त्रिरूपत्व के श्रवण स्मरण से स्वरूप से भिन्न होने से-चेतनाचेतनात्मक विश्व ब्रह्मभिन्नाभिन्न है ऐसा श्रीसनत्कुमार-श्रीनारदव्यासादि का मतम्-निर्णीत सिद्धान्त है।

किञ्च=और भी कहते हैं-जो वस्तु यदात्मक होती है वह उससे अभेद के योग्य होती है। (जैसे कुण्डल वस्तु सुवर्णात्मक है, वह कुण्डल वस्तु सुवर्ण के अभेद के योग्य है। इस बात को छान्दोग्योपनिषद के प्राण सम्वाद में कहा है-न वाणी-न नेत्र-न श्रोत्र-न मन कहा है-प्राण ही कहा है-यह सर्व प्राण ही होता है। इत्यादि।

अपिच=और भी कहा है-यो यद्व्याप्यः, स तद्रूपो भवति। जो जिसका व्याप्य है वह तद्रूप होता है (जिसका व्याप्य है-उसका रूप होता है-जैसे धूमवह्नि का व्याप्य है वह (धूम) वह्नि रूप है। इसी प्रकार प्रपंच ब्रह्म का व्याप्य है वह ब्रह्मरूप है।

हे देव जो देवतागण आपके समर्पण आया है वह जगत्स्रष्टा आपका स्वरूप है जिस कारण से आप सर्वगत हैं। गीता स्मृति कहती-सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वं'' आप सर्व में व्याप्त है अतः सर्वरूप है।

किञ्च--और भी कहते है-विश्वात्मा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण-स्वाश्रित स्वतन्त्र सत्ता से विश्व में अभिन्न है। सर्वज्ञतादिवद् (भावरूप धर्म से, और परतन्त्र सत्ता भाव रूप (अभाव रूप धर्म से) विश्व से भिन्न है, इस प्रकार पुरुषोत्तम से अपृथक् (अर्थात् भगवान् के अधीन स्थिति प्रवृत्ति वाला होने से चेतनाचेतन स्वरूप प्रपंच अभिन्न है-स्वासाधारण धर्म (प्रपंच का असाधारण धर्म) परतन्त्र सत्ता रूप से भिन्न है। इस प्रकार से परब्रह्म स्वरूप पुरुषोत्तम भगवान् विश्वाभिन्नाभिन्न है ऐसा सिद्धान्त निम्बार्क सम्प्रदाय का है।

ज्ञातव्य विषय का स्पष्टीकरण इस प्रकार से है-जैसे नव्यन्याय के आचार्य श्रीरघुनाथ शिरोमणि भट्टाचार्य ने-शाखावच्छेदेन कपि संयोगी का अस्तित्व-एवं मूलावच्छेदेन कपि संयोगी के भेद को स्वीकार किया है।

प्रतियोगितावच्छेद को मानकर उक्ति एवं प्राचीनों की इस बात का खण्डन किया है कि भेद व्याप्य वृत्ति होता है उनका कहना है अवच्छेदक के भेद से भेद भी अव्याप्यवृत्ति हो सकता है। उसी प्रकार स्वाश्रित (ब्रह्माश्रित) स्वतन्त्र सत्ता को अवच्छेदक मानकर ब्रह्म का अभेद रह सकता है। परतन्त्र सत्ता के अभाव को अवच्छेदक मानकर अथवा सर्वज्ञता आदि भाव रूप को अवच्छेदक मानकर ब्रह्म का विश्व में भेद भी रह सकता है। वह भेदपरतन्त्र सत्ता को अवच्छेदक मानकर रहेगा। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है-ब्रह्म में परतन्त्र सत्ता नहीं है अपितु परतन्त्र सत्ता का अभाव है- ''परतन्त्र सत्ता भाववान् न'' इत्याकारक सत्ता भावनिष्ठ अवच्छेदकता निरूपितवान् (ब्रह्म) निष्ठ प्रतियोगिताक भेद प्रपंच में रहेगा। वह परतन्त्र सत्तावच्छेदेन रहेगा क्योंकि प्रपंच में परतन्त्र सत्ता है एवं ब्रह्म का भेद भी है दोनों का अवच्छेद अवच्छेदक भाव बन जायेगा। प्रतियोगी तथा अभाव का समानाधिकरण नहीं बन सकता ऐसी वादी की शंका का निरास हो जाता है।

किञ्च-जब पक्षान्तर को लेकर समन्वय प्रदर्शित करते है-एवमेव तत् पदार्थो विश्वात्मा पुरुषोत्तमः=तत् पद का अर्थ-विश्वात्मा पुरुषोत्तम है

एवं त्वं पद का अर्थ क्षेत्रज्ञान्तरात्मा (अन्तर्यामी) उन दोनों का (तत् पदार्थ एवं त्व पदार्थ अन्तर्यामी) अभेद घट द्रव्य है पृथिवी द्रव्य है इसके समान मुख्य ही है अतः पूर्वोक्त सिद्धान्त साधु है।

यहां ग्रन्थकार का यह तात्पर्य है कि 'तत्त्वमसि' इस महा वाक्य में तत् पद का अर्थ पुरुषोत्तम-एवं त्वं पद का अर्थ क्षेत्रज्ञ प्रसिद्ध है-असि पद सम्बन्ध का वाचक है-अभेद सहिष्णु भेद ही सम्बन्ध है। जैसे त्वं पदार्थ जीवात्मा प्रसिद्ध है वैसे ही अन्तर्यामी भी त्वं पद का अर्थ है तब तो दोनों का अभेद ही सम्भव है उसमें दृष्टान्त देते है-''घटो द्रव्यम्'' द्रव्य शब्द सामान्य का वाचक है-घट शब्द विशेष का वाचक है। विशेष सामान्य एकरूप होते हैं-उसी प्रकार तत् पदार्थ पुरुषोत्तम सामान्य है-त्वं पदार्थ अन्तर्यामी विशेष है अतः इस पक्ष में (अभेद सहिष्णु भेद) सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं है।

पूर्वोक्त दोनों पक्ष में भाग त्याग लक्षणा की आवश्यकता नहीं है शक्ति वृत्ति से ही निर्वाह हो सकता है।

अब वादी द्वितीय पक्ष में शंका करता है ननु-इति। तत् पदार्थ विश्वात्मा पुरुषोत्तम है इसमें किसी विवाद के न होने से इस पक्ष में शंका को अवकाश नहीं है-किन्तु त्वम् पदार्थ की क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के रूप में प्रसिद्धि होने से क्षेत्रज्ञान्तरात्मा (अन्तर्यामी) रूप से कथन समीचीन नहीं है यदि पूर्व पक्षी ऐसा सन्देह करे तो उसका समाधान करते हैं। हे पूर्व पक्षिन्? समाहित मन से श्रवण करो।

जैसे अग्नि से ढक् प्रत्यय हो-यहाँ अग्नि शब्द अकारादि विशिष्टानु-पूर्वक अग्नि शब्द का वाचक है, एवं अग्नि में हवन करे'' यहां पर अग्नि शब्द दहन प्रकाशनादि धर्म विशिष्ट वस्तु का विधायक है। इस प्रकार से दोनों अर्थों का विधान करना अग्नि शब्द का शक्य (वाच्य) मुख्यार्थ ही है (लाक्षिणक नहीं) ऐसा वैयाकरण लोगों का सिद्धान्त है, उसी प्रकार-उपनिषद् सिद्धान्त मानने वालों का कहना है कि-ब्रह्मा रुद्र इन्द्र आदि चेतना चेतन वस्तुमात्र के बोधन करने वाले शब्द तत् तत् पदार्थ के वाचक होने पर भी, उस उस पदार्थ के आत्मस्वरूप ब्रह्म (अन्तर्यामी) तत्त्व के भी वाचक है इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं क्योंकि ब्रह्म सर्व की आत्मा है। जैसे

चतुर्मुखादि शब्दों का ब्रह्मा का शरीर वाच्यार्थ है एवं उस शरीर से विशिष्टात्मा भी चतुर्मुख शब्द का वाच्य है। चतुर्मुख शब्द दोनों का वाचक होने पर भी ब्रह्म को सर्वात्म होने से चतुर्मुख वाचक कहता है। इसी तात्पर्य से श्रुतियाँ वस्तु समुदाय को ब्रह्म घोषित करती है। ''भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा'' भोक्ता भोग्य तथा अन्तर्यामी को जानकर। इत्यादि से। ''नामानि सर्वाणि यमाविशन्ति'' सम्पूर्ण नाम जिसमें प्रवेश करते है। इत्यादि श्रुतियाँ भी उक्तार्थ में प्रमाण है।

किञ्च--सम्पूर्ण श्रुतियों का मूलरूप गायत्री भी उभय स्वतन्त्र सत्ता एवं परतन्त्र सत्व प्रकारता का प्रतिपादन करती है-तथादि-इत्यादि। देव शब्द के वाच्य पुरुषोत्तम को सर्वनियन्ता होने से स्वतन्त्र सत्ता श्रयत्व है। अस्मद् शब्द के वाच्य चेतनों को, एवं धी शब्द से उपलक्षित अचेतन वस्तुओं को पुरुषोत्तम से नियम्यत्व कथन से परतन्त्र सत्ता श्रयत्व है विश्वभिन्नाभिन्न ब्रह्म है यह सर्ववेदान्तार्थ सिद्ध हुआ।

इस प्रकार से सम्पूर्ण वाक्यों को शक्तिवृत्ति से ही स्वार्थ में प्रमाण होने से विरोध शंका को अवकाश नहीं है। इससे 'सर्वं खल्विदम्' इत्यादि वाक्यों का भी व्याख्यान हो गया। उनका भी तुल्य योग क्षेम होने से हम विस्तार से विराम लेते है।

(द्वितीय कोष्टक समाप्त)

एवं तावत्प्रथमकोष्ठे पदार्था निरूपिताः, द्वितीये च भेदाभेदभेद-निषेधपराणां वाक्यानामविरोधप्रकारेण समन्वयपूर्वकं स्वार्थे प्रामाण्यं प्रतिपादितमथेदानीं साधनानि विधीयन्ते। तानि च कर्मज्ञानभक्तिप्रपत्ति-गुर्वाज्ञानुवृत्तिभेदाद्विविधानि। तत्र नित्यनैमित्तककाम्यभेदात्कर्मयोगस्त्रि-विधः। तत्र ''अहरहः संध्यामुपासीत यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादि'' त्यादिना नित्यतया विधीयमानानि संध्योपासनस्नानजपतर्पणादीनि एवं यज्ञदानाध्ययनानि च नित्यानि त्रैवर्णिकद्विजातिसाधारणानि भवन्ति। याजनादानाध्यापनानि च द्विजात्यसाधारणानि, तेषां त्रयाणां तु निष्कामतयानुष्ठाने नित्यत्वं सकामतयानुष्ठानेऽनित्यत्वमिति विभागः। याजनादिनाऽऽदानं तु यावद्देहयात्रामात्रमेवाधिकं तु प्रतिग्रह एवान्यथा दानस्य तृतीयस्य वैयर्थ्यादतः षट्कर्मको ब्राह्मणस्त्रिवर्णिककर्मकौ

क्षत्रियवैश्यौ चेति। अथेन्द्रियनिग्रहतीर्थसेवनोपवासफलाहारदेहशोषणान्न-पानादीनि सर्वसाधारणानि कर्त्तृत्वाद्यभिमानशून्यैर्मुमुक्षुभिरनुष्ठितानां तेषां मनःशुद्धिपरम्परया ज्ञानभक्तिजनकत्वेन मोक्षसाधकत्वं सकामत्वेना-नुष्ठीयमाने च काम्यकोटावन्तर्भाव इति विवेकः। अथ केनचित्कालादि-विशेषनिमित्तेन विधीयमानश्राद्धादिकर्म नैमित्तिकं ''स्वर्गकामो यजेदि'' त्यादिना सकामतया विधीयमानानि कर्माणि काम्यानि तेषां तु निषिद्ध-वत्संसारहेतुत्वाविशेषान्मुमुक्षुभिस्तानि हेयान्येव ज्ञानयोगश्चात्रैव पूर्वग्रन्थे संगृहीतः। भक्तियोगोऽपि निरन्तरश्लोकेन वक्ष्यते। अस्मिन् श्लोके तु प्रपत्तिगुर्वाज्ञानुवृत्तियोगौ प्रतिपाद्येते--

अथ ग्रन्थकार पूर्व प्रकरण तथा उत्तर प्रकरण की सङ्गति दिखाते हुये अष्टम श्लोक के अवतरण का निरूपण करते हैं-एवं तावत् प्रथम कोष्ठे'' इत्यादि। इस प्रकार प्रथम कोष्ट में पदार्थों का निरूपण किया (अर्थात् प्रथम तथा द्वितीय श्लोक में चिद् पदार्थ के लक्षण तथा भेद का निरूपण किया तृतीय श्लोक में अचिद् पदार्थ का निरूपण किया चतुर्थ तथा पंचम श्लोक में ईश्वर तत्त्व का निरूपण किया इस प्रकार ब्रह्मसूत्र के समन्वयाध्याय के अर्थ को संक्षेप से प्रतिपादन किया। द्वितीय कोष्ठ में-भेदाभेदवाक्यों का एवं भेद निषेधवाक्यों का अविरोध प्रकार से समन्वय पूर्वक स्वार्थ में प्रामाण्य का प्रतिपादन किया (इससे ब्रह्मसूत्र के द्वितीयाध्याय के अर्थ को संक्षेप से प्रतिपादन किया)

अब साधनों का विधान करते हैं (अर्थात् ब्रह्मसूत्र के तृतीयाध्याय में प्रतिपादित अर्थ को संक्षेप से प्रतिपादन करते हैं। वह साधन-कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, प्रपत्तियोग, गुरु आज्ञा अनुवृत्तियोग से नाना प्रकार के हैं। उनमें नित्य, नैमित्तक, काम्यभेद से कर्मयोग तीन प्रकार का है। उनमें प्रतिदिन संध्या उपासना करे-यावत् जीवन अग्निहोत्र कर्म करें-इस रूप से नित्य जिनका विधान है ऐसे संध्या उपासन, स्नान, जप, तर्पणादि कर्म, एवं यज्ञ दान अध्ययन नित्यकर्म है वह तीनों वर्ण द्विजाति के साधारण कर्म है। एवं याजन (यज्ञ कराना) आदान (दक्षिणा लेना) एवं अध्यापन (वेद पढाना) यह ब्राह्मण के साधारण कर्म है। इन तीनों का निष्काम रूप से अनुष्ठान नित्यकर्म है। सकाम रूप से अनुष्ठान अनित्य है (अर्थात् जीविका

है) इस प्रकार से विभाग है। याजनादि से आदान=ग्रहण करना–उतना ही उचित है जिससे देहयात्रा चल जाये अर्थात् जीवन निर्वाह हो जाये–अधिक का ग्रहण प्रतिग्रह है। अन्यथा ऐसा स्वीकार न करने पर तृतीय साधन आदान व्यर्थ होगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि याजन से ही ग्रहण सिद्ध हो जाता है पुनः आदान पद का उपादान व्यर्थ होगा क्योंकि याजन–यज्ञ कराने को कहते हैं वहां पर दक्षिणा का विधान होने से ही आदान ग्रहण सिद्ध हो जाता है अतः आदान का ग्रहण व्यर्थ है ''व्यर्थं सदिष्टं ज्ञापयति'' इस नियम से आदान व्यर्थ होकर यह ज्ञापन करता है कि याजनादि से उतना ही ग्रहण होना चाहिये जितने से देहयात्रा सम्पन्न हो जाये। अतः षट् कर्म करने वाला ब्राह्मण होता है एवं तीन कर्म करने वाले क्षत्रिय तथा वैश्य कहलाते हैं। अब सर्वसाधारण कर्म को कहते हैं–इन्द्रिय को स्वाधीन करना, तीर्थ सेवन, उपवास करना, फलाहार करना। जिससे देह शोषण हो ऐसा अन्नपानादि करना (अर्थात् स्वल्पाहार करना) यह सर्व साधारण कर्म है। कर्तृत्वाभिमान से शून्य होकर मुमुक्षुओं द्वारा अनुष्ठित उनकी चित्त शुद्धि परम्परा से ज्ञान तथा भक्ति के कारण होने से मोक्ष (भगवत् सार्धम्य) के कारण होते हैं। इनका सकामानुष्ठान काम्य कर्म के अन्तर्भूत है। किसी कालादि विशेष निमित्त से जिनका विधान है वह श्राद्धादि नैमित्तक कर्म है। स्वर्ग की कामना वाला पुरुष यज्ञ करे, इत्यादि वाक्यों द्वारा सकाम रूप से जिनका विधान है वह काम्य कर्म कहलाते हैं। जैसे निषिद्ध कर्म संसार के हेतु हैं वैसे ही काम्य कर्म भी संसार (जन्म मरण) के कारण होने से मुमुक्षु पुरुष (भगवद् भक्त) को उनका परित्याग कर देना चाहिये। ज्ञानयोग का संग्रह तो वहाँ ही ग्रन्थ में किया है। भक्तियोग भी निरन्तर श्लोक से कहा गया है। इस श्लोक में प्रपत्तियोग एवं गुरु आज्ञानुवृत्तियोग का प्रतिपादन करते हैं––

नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्सन्दृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहादचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात्।।८।।

जिनकी शक्ति और आश्रय किसी को पता नहीं वह भक्तों की इच्छानुरूप सुचिन्त्य विग्रह ग्रहण करते हैं। ब्रह्मा शिवादि जिनके श्रीचरणों की वन्दना करते हैं उन श्रीकृष्ण के चरणकमलों की शरणागति के अतिरिक्त

जीवें का कोई आश्रय नहीं है।।८।।

नान्या गतिरिति। तत्र प्रथमपादेन--

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वा वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।
सर्वस्य शरणं सुहृत्,
तावदार्तिस्तथा वाञ्छा तावन्मोहस्तथा सुखम्।
यावन्न याति शरणं त्वामशेषाघनाशनम्।।
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत !।
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
य एनं संश्रयन्तीह भक्त्या नारायणं हरिम्।।
ते तरन्तीह दुर्गाणि नात्र कार्य्या विचारणा।

इति श्रुतिस्मृतीतीहासादिवाक्यानामर्थः प्रतिपाद्यते नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दादिति। श्रीकृष्णपदारविन्दादन्या क्षेत्रज्ञानां गतिः श्रुति-स्मृतीतिहासादिषु न दृश्यत इत्यन्वयः।

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
अहमेव गतिस्तेषां, त्वं हि लोकगतिर्ब्रह्मन् !,
नहि विष्णुमृते काचिद्गतिरन्या विधीयते।।
अगतीनां गतिर्भवानित्यादिस्मृतेः। अयं गतिशब्दः प्रपत्तिपरः
अहमप्यपराधानामालयोऽकिञ्चनो गतिः।
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः।।
शरणागतिरित्युक्ता, सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यतामिति लक्षणसम-न्वयात्।

सा च षड्विधा--

अनुकूलस्य सङ्कल्पः प्रतिकूलस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा
आत्मनिक्षेपकार्म्मण्ये षड्विधा शरणागतिः।

इतिवचनात्। अस्यार्थः अनुकूलस्य सङ्कल्पो नाम श्रीपुरुषोत्तमस्य

सर्वात्मत्वं निश्चित्य ब्रह्मादिस्थावरपर्य्यन्तप्राणिमात्रस्यानुकूलाचरणाध्यवसायः। इति प्रथमयोगः।

चराचराणि भूतानि सर्वाणि भगवद्वपुः।

अतस्तदानुकूल्यं मे कर्त्तव्यमिति निश्चयः।। इति वचनात्१

प्रतिकूलस्य वर्जनं पूर्वोक्तविपरीतहिंसामात्सर्य्यादित्यागः। स च विरोधिस्वरूपनिर्णये वक्ष्यते।

परापवादं पैशून्यमनृतं यो न भाषते।

अनुद्वेगकरं चापि तोष्यते तेन केशवः।।

परपत्नीपरद्रव्यपरहिंसासु यो मतिम्।

न करोति पुमान् भूप तोष्यते तेन केशवः।।

न ताडयति नो हन्ति प्राणिनोऽन्यांश्च देहिनः।

यो मनुष्यो मनुष्येन्द्र तोष्यते तेन केशवः।।

इति सगरं प्रति और्ववाक्यम्।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।। इत्युभयत्र प्रमाणम्२

विश्वासो नाम वात्सल्यादिगुणरत्नाकरः सर्वाश्रयः सर्वशरण्यः प्रपन्नानस्मान् रक्षिष्यत्येवेति निश्चयो विश्वासः--

रक्षिष्यत्यनुकूलान्न इति या सुदृढा मतिः।

स विश्वासो भवेच्छक्र सर्वदुष्कृतनाशनः।। इति तृतीयः ३

गोप्तृत्ववरणं च सर्वज्ञः सर्वरक्षासमर्थः कारुण्यवात्सल्यादिगुणसागरोऽपि पुरुषोत्तमः प्रार्थनाशून्यैरात्मपराङ्मुखैर्जनैरप्रार्थितो न गोपायति अन्यथा सर्वमोक्षप्रसङ्गात् शास्त्रसेतुभङ्गापत्तेश्चेति निश्चित्य बुद्धेः सदैव प्रार्थनाप्राविण्यं आत्मरक्षाविषयात्मकतद्रक्षितत्वव्यवसायविशेष इति यावत्।

अप्रार्थितो न गोपायेदिति या प्रार्थनामतिः।

गोपायिता भवत्येव गोप्तृत्ववरणं स्मृतम्।।

प्रार्थनारूपं तु--

श्रीकृष्णरुक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर !।

संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो !।।

केशव क्लेशहरण नारायण जनार्द्दन !।

गोविन्द परमानन्द मां समुद्धर माधव !।।

इत्यादिमंत्रैः स्पष्टं ज्ञाप्यते। इति चतुर्थः ४

आत्मनिक्षेपश्च प्रपत्तव्यस्य माधवस्यासाधारणप्रसादहेतुः प्रपत्तिरेवेति। निश्चयेन तेन रक्ष्यमाणस्यात्मनोऽहंममत्वफलस्वाम्यादीनां भारस्य श्रीभगवत्यर्पणम्--

आत्मात्मीयभरन्यासो ह्यात्मनिक्षेप उच्यते। इति वचनात्।

आत्मा राज्यं धनं मित्रं कलत्रं वाहनानि च।

एतद्भगवते सर्वमिति तत्प्रोज्झितं सदा।। इत्युपरिचराख्याने।

राज्यं चाहं च रामस्य धर्मं वक्तुमिहार्हसि।।

इति वाल्मीकीये भरतवचनात्।

द्व्यक्षरं तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्।

इति भारतवचनात्, ''सर्वधर्मान्परित्यज्ये''तिचरमोपदेशात्।

इति पञ्चमः ५

कार्प्पण्यं च उपायानामसिद्ध्या तद्विपरीतानामपायानां स्वतः प्राप्त्या च कर्त्तृत्वाद्यभिनिवेशरूपगर्वहानिः।

उपाया नैव सिद्ध्यन्ति ह्यपाया विविधास्तथा।

इति या गर्वहानिस्तद्दैन्यं कार्प्पण्यमुच्यते।।

इति वचनात् इति षट्६। एतेष्वात्मनिक्षेप एकाङ्गित्वान्मुख्यः।

अन्ये च तत्सहकारिणस्तदङ्गभूता इति विवेकः।

ननु विधिशिवेन्द्रादिषु नानादेवेषु विद्यमानेषु सत्सु कथं श्रीकृष्णादेव गतिर्नान्येभ्य इत्याशङ्क्यास्य सर्वसेव्यत्वमाह ब्रह्मशिवादिवन्दितादिति। ब्रह्म शिवादिर्येषां ते तथा तैर्देवैर्वन्दितात् तेषां स्तुतिनमस्कारादिविषयभूतादित्यर्थः। '' यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्चेति'' श्रुतिः।

ब्रह्माद्याः सकला देवा मनुष्याः पशवस्तथा।

विष्णुमायामहावर्त्तमोहान्धतमसा वृताः।।

आराध्य मामभीप्सन्ते कामानात्मविशुद्धये।

इति चैव बलभद्रवचनात्। ननु ब्रह्मादिसुरसेव्यस्य जीवतिर्यग्योन्यादिषु जन्मासम्भव एवेत्याशङ्क्य स्वभक्ताधीनत्वेन सर्वं घटत इत्याह

भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहादिति। भक्तानामिच्छा भक्तेच्छा तयोपात्ता व्यक्तीकृताः सुचिन्त्याः सुष्ठु चिन्तनयोग्या विग्रहा मत्स्यादिरूपा विश्वरूपादयो वा येन स उपात्तसुचिन्त्यविग्रहः। यस्मात् सत्यव्रतप्रह्लादार्जुनादीनामिच्छया मत्स्यनृसिंहविश्वरूपादिविग्रहान् स्वीकृतवानित्यनेन ब्रह्मादिभ्योऽपि भक्तानामाधिक्यं सूचितम्।

धन्योऽस्यनुगृहीतोऽसि यत्ते दृष्टः स्वयं प्रभुः।
नहि तं दृष्टवान्कश्चित्पद्मयोनिरपि स्वयम्।।

इति नारायणीये नरनारायणवचनादीन्यनेकानि प्रमाणानि बृहन्मञ्जूषायां द्रष्टव्यानि।

नन्वस्य भक्ताधीनत्वे सति स्वतन्त्रत्वहानिस्तथात्वे चेश्वरत्वाभावात्सेव्यत्वाभावः। स्यादिति चेदत्राह अचिन्त्यशक्तेरिति। तावच्छब्देन चिन्तयितुं योग्या चिन्त्या तर्कगोचरा न चिन्त्या तर्कगोचराशक्तिर्यस्य सोऽचिन्त्यशक्तिस्तस्मात् उपलक्षणं चैतज्ज्ञानैश्वर्य्यादीनां स्वरूपवद्यावदात्मभाविविचित्रापरिच्छिन्नासंख्याताः स्वाभाविक्योऽघटनघटनापटीयस्यः शक्तयो ज्ञानादयश्च यस्य स तस्मादिति ''परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः'' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। इत्यनेनाचिन्त्यशक्तिसार्वज्ञादिगुणयुक्तत्वेनेश्वरत्वात्सर्वसेव्यत्वमस्य सूचितमिति। यस्मादचिन्त्यशक्तिस्तस्मात् अविचिन्त्यसाशयादिति। आशयेन सह वर्त्तमानं साशयं तात्पर्यं ब्रह्मादिभिरचिन्त्यमतर्क्यं साशयं तात्पर्यं यस्या सावचिन्त्यसाशयस्तस्मात् ''कोऽद्धा वेद यत आ बभूव त्वं हि त्वां वेत्थ योऽसि सोऽसि न ते विष्णो र्जायमानो न जातो देवस्य महिम्नः परमं तमाप''त्यादिश्रुतिभ्यः,

प्रजापतिं च रुद्रं च सृजामि च हरामि च।
केऽपि मां नैव जानन्ति मम मायाविमोहिताः। इति स्मृतेश्च।
यं नायं भगवान्ब्रह्मा जानाति परमं पदम्।
तं नता स्म जगद्धाम सर्वं सर्वगमच्युतम्।।
यं न देवा न मुनयो न चाहं न च शङ्करः।
जानन्ति परमेशस्य तद्विष्णोः परमं पदम्।।

इति वाराहवचनात्।।८।।

नान्यागतिरिति–तत्रप्रथमपादेन–इस पद का अन्वयः–इति श्रुति स्मृतितीहासादि वाक्यानामर्थः प्रतिपाद्यते इस पंक्ति से है। नान्यागतिः कृष्णपदारविन्दादिति–श्रीकृष्ण के चरणकमल से अतिरिक्त जीवों की गति श्रुति स्मृति इतिहासादि में नहीं देखी गई।

अब इसके विषय में प्रमाणों का संग्रह करते है–जो ब्रह्मा को सर्व प्रथम उत्पन्न करते हैं तथा उसको वेदों का ज्ञान देते हैं उस बुद्धि के प्रकाश देव की मैं मुमुक्षु शरण को प्राप्त होता हूँ।

जब तक जीव अशेषपापनाशक भगवान् की शरण में नहीं जाता, तब तक ही आर्ति मोद तथा दुःख होता है। गीता में कहते हैं–हे भारत! सर्वभाव से उसकी शरण में जाओ। सर्वधर्म का परित्याग कर मेरी शरण आओ जो भक्ति से नारायण हरि का आश्रय करते हैं वह विषम मार्गों को पार कर जाते हैं इसमें विशेष विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

भगवान् सर्व की गति आश्रय है इसमें प्रमाण उद्धृत करते हैं। गतिभर्त्ता इत्यादि उनकी मैं ही गति हूँ'' हे ब्रह्मन् आप ही लोक की गति हो। विष्णु के विना अन्य कोई गति का विधान नहीं। जिनकी कोई गति नहीं उनके आप गति (आश्रय) हो। यह गति शब्द प्रपत्ति का वाचक है। अब प्रपत्ति का स्वरूप बताते हैं–मैं अपराधों का आलय (घर हूँ) अकिंचन हूँ मेरा कोई आश्रय नहीं। मेरा उपाय आप ही बन जाओ ऐसी प्रार्थना युक्त बुद्धि ही शरणागति कही गई है उस प्रकाश स्वरूप प्रभु में इसका प्रयोग करे ऐसा लक्षण का समन्वय है। वह शरणागति छः प्रकार की है। अनुकूल का संकल्प, प्रतिकूल का निधेष, मेरी रक्षा करेंगे ऐसा विश्वास तथा रक्षक के रूप में वरण, आत्मनिक्षेप (भगवान् को समर्पण) तथा दैन्य यह छः प्रकार की शरणागति है। अब इसकी स्वयं व्याख्या करते हैं।

अनुकूल का संकल्प–इसका यह तात्पर्य है–श्रीपुरुषोत्तम को सर्व की आत्मा जानकर ब्रह्म से स्थावर पर्यन्त प्राणिमात्र के अनुकूलाचरण का निश्चय। यह प्रथम योग है।

इसमें प्रमाण देते हैं–चराचर (जंगम तथा स्थावर सम्पूर्ण भूत प्राणी भगवद् विग्रह है अतः उनका आनुकूल्य करना मेरा कर्त्तव्य है–ऐसे निश्चय का नाम अनुकूल संकल्प है। प्रतिकूल के वर्जन का तात्पर्य है–पूर्व कथन

से विपरीत हिंसा मात्सर्य्यादि का परित्याग। इसको हम भक्ति के विरोधी निर्णय में कहेंगे। जो व्यक्ति दूसरे की निन्दा एवं चुगली नहीं करता एवं मिथ्या भाषण नहीं करता, दूसरे को विक्षेप देने वाले शब्द का प्रयोग नहीं करता उस पर भगवान् प्रसन्न होते हैं। हे राजन्! जो पुरुष परस्त्री पर द्रव्य, परहिंसा में बुद्धि को नहीं लगाता उस पर केशव प्रसन्न होते हैं। हे राजन्! जो देहधारी अन्य प्राणियों की ताडना एवं हनन नहीं करता उस पर भगवान् प्रसन्न होते हैं। ऐसा सगर के प्रति जीव का वचन है।

हे पाण्डव। जो मदर्थ कर्म करता है मेरे को सर्वोत्तम मानता है मेरा भक्त है और आसक्ति रहित है-सम्पूर्ण भूतों में निर्वैर है वह मेरे को प्राप्त करता है। गीता वचन-अनुकूलाचरण तथा प्रतिकूल वर्जन, दोनों में प्रमाण है। वात्सल्यादि गुणरूप रत्नों की खान, सर्वाश्रय सर्वशरण्य-हम प्रपन्नों की रक्षा करेंगे इस निश्चय का नाम विश्वास है।

हे इन्द्र! हम अनुचरों की प्रभु रक्षा करेंगे ऐसा दृढ बुद्धि का नाम विश्वास है वह सर्वपाप का नाशक है। यह शरणागति का तृतीय अङ्ग है। सर्वज्ञ-सर्वरक्षासमर्थ, कारुण्य वात्सल्यादि गुणसागर भी पुरुषोत्तम, प्रार्थना शून्य भगवद् विमुख जनों की प्रार्थना विना रक्षा नहीं करते-अन्यथा सर्वमोक्षापत्ति होगी एवं शास्त्र मर्यादा भङ्ग होगी ऐसी निश्चित बुद्धि से सदैव प्रार्थनाभिमुख-आत्मरक्षा विषय स्वरूप तद् रक्षित्व निश्चय विशेष रूप है गोप्तृत्ववरण है। भगवान् "गोपायिता भवत्येव" रक्षक तो होते ही हैं किन्तु प्रार्थना से विना रक्षा नहीं करते इस प्रकार की प्रार्थना विषयक बुद्धि का नाम गोप्तृत्व वरण है।

प्रार्थना का स्वरूप निम्नलिखित मन्त्रों से स्पष्ट ज्ञात होता है--

हे श्रीकृष्ण रुक्मिणीकान्त! हे गोपीजनमनोहर! हे जगद्गुरो! मैं संसार सागर में मग्न हूँ मेरा उद्धार करो।

हे केशव! हे क्लेशहरण! हे नारायण! हे जनार्दन! हे गोविन्द! हे परमानन्द! हे माधव! मेरा उद्धार करो। यह चतुर्थ अङ्ग है।

(यह दोनों मन्त्र गोपालतापनी के हैं)

आत्म निक्षेप का लक्षण यह है-प्रपत्ति के योग्य माधव के असाधारण कृपा का हेतु प्रपत्ति ही है इस प्रकार के निश्चय से भगवान् से रक्षमान स्व

का अहंमत्ता एवं फलस्वामित्व का भार भगवान् के अर्पण करना। इसमें प्रमाण देते हैं-आत्मीय भार का भगवान् को समर्पण करना आत्म निक्षेप कहा गया है।

उपरिचराख्यान में कहा है--

आत्मा-राज्य, धन, मित्र, स्त्री, वाहन यह सर्व भगवान् के समर्पित है।

राज्य तथा हम सर्व राम के हैं ऐसे धर्म को आप कथन करने योग्य हैं।

दो अक्षर (मम) यह मृत्यु है तीन अक्षर (न मम) यह शाश्वत ब्रह्म है-यह महाभारत का वचन है।

सर्व धर्मों का परित्याग करो यह गीता का अन्तिम उपदेश है। यह पञ्चम अङ्ग है।

कार्पण्य का स्वरूप यह है कि-साधनों की असिद्धि से एवं उनसे विपरीत विघ्नों की स्वतः प्राप्ति होने से, कर्तृत्वादि के अभिनिवेश रूप गर्व की हानि=नाश इसमें प्रमाण देते हैं-साधन सिद्ध नहीं होते तथा विघ्न् नाना प्रकार के हैं ऐसा विचार करके जो गर्व का नाश है ऐसे दैन्य का नाम कार्पण्य है। यह शरणागति का षष्ठाङ्ग है। इनमें अङ्गी होने से आत्मनिक्षेप ही मुख्य है अन्य सहकार होने से उसके अङ्ग हैं।

शङ्का--ब्रह्मा शिव इन्द्रादि नाना देवों के विद्यमान होने से कैसे? श्रीकृष्ण से जीव की गति (कल्याण) है, अन्य से नहीं? ऐसी शंका होने पर कहते है-ब्रह्मशिवादिवन्दितादिति'' ब्रह्मा शिव है आदि में जिसके ऐसे देवों से वन्दित श्रीकृष्ण हैं अर्थात् उनकी स्तुति नमस्कारादि के विषय श्रीकृष्ण हैं। इसमें श्रुति प्रमाण है-जिसको सर्वदेवता, मुमुक्षु ब्रह्मवादी नमन करते हैं। इसमें बलरामजी का वचन है--

ब्रह्मादि सम्पूर्ण देवता, मनुष्य तथा पशुगण विष्णु की माया रूप आवर्त्त से मोहान्ध होकर तमो गुण से आच्छादित है मेरा आराधन करके मन की शुद्धि से कामनाओं को प्राप्त करते हैं।

ननु-इत्यादि। शंका--ब्रह्मादि देव सेव्य भगवान् का जन्म, जीवयोनि एवं पशु योनि में सम्भव नहीं-ऐसी शंका होने पर कहते हैं-भगवान् को

स्वभक्त के अधीन होने से सर्व सम्भव है-भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहादिति। भक्तों की इच्छा से व्यक्त किया है चिन्तन योग्य मत्स्यादि रूप अथवा विश्वरूपादि विग्रह जिसने। जिस कारण से सत्यव्रत, प्रह्लाद, अर्जुनादि की इच्छा से मत्स्य, नृसिंह विश्वरूपादि विग्रहों को स्वीकार किया है इस कारण से भक्त लोग ब्रह्मादि से भी श्रेष्ठ हैं ऐसा सूचित होता है। जैसा कि नारायणीय में नर नारायण का वचन है तुम धन्य हो और अनुगृहीत हो, तुमने स्वयं प्रभु का दर्शन किया है, ब्रह्मा भी उसको देखने में समर्थ नहीं है और भी अनेक प्रमाण है उनको बृहन्मञ्जूषा में देखना चाहिये।

''ननु'' इति। इस प्रभु को भक्त के आधीन स्वीकार करने पर स्वतन्त्र की हानि होगी। वैसा स्वीकार करने पर ईश्वरत्व का अभाव होगा। ईश्वरत्वाभाव से सेव्यत्व का (सेवा योग्य) अभाव होगा। ऐसी शंका से कहते हैं-अचिन्त्यशक्तेरिति। तावच्छब्देन=अचिन्त्यशक्ति शब्द से यह तात्पर्य है-चिन्तन के योग्य तर्क के विषय को चिन्त्य कहते है-तर्क का विषय जिसकी शक्ति नहीं है उसको अचिन्त्य शक्ति कहते है। अचिन्त्यशक्ति शब्द ज्ञान ऐश्वर्यादि का उपलक्षण है। स्वरूप की तरह यावदात्मभाविविचित्र अपरिच्छिन्न संख्या रहित एवं स्वाभाविक अघटनघटनापटीय ज्ञानादि जिसकी शक्ति वह अचिन्त्य शक्ति है। परास्य शक्तिः इस पुरुषोत्तम की शक्ति नाना प्रकार की है यह श्रुति है। शक्तयः सर्वभावानाम्-यह विष्णुपराण का वचन है। इससे यह सूचित होता है कि अचिन्त्य शक्ति वाला होने से सर्वज्ञादि गुण युक्त है अतः ईश्वर होने से सर्वसेव्य है।

यस्मात्=जिस कारण से अचिन्त्य शक्ति वाले हैं-उस कारण अविचिन्त्यसाशय है। आशय=तात्पर्य के सहित वर्तमान को साशय कहते हैं उनका तात्पर्य ब्रह्मादि के द्वारा भी अचिन्त्य=अतर्क्य है आशय तात्पर्य जिसका उसको अविचिन्त्य साशय कहते हैं उससे विना अन्य गति नहीं है।

ज्ञातव्य-यद्यपि यहां पञ्चम्यन्त विशेषण भगवत् पदारविन्द के हैं तथापि अङ्ग तथा अङ्गी का अभेद मानकर-भगवान् के विशेषण भी सम्भव है-साशय-तात्पर्य के सहित वर्तमान भगवान् है। इस विशेषण से गुरु आज्ञानुवर्ती योग की सिद्धि हो जाती है।

कोऽद्धा वेद यत आबभूव=जिससे जगत् उत्पन्न हुआ है-उसको

साक्षात् कौन जान सकता है। तो आप हो उसको आप ही जानते हो। हे विष्णो! ऐसा पुरुष न हुआ है न होगा जो आपकी महिमा अन्त को जान सके। इत्यादि श्रुति प्रमाण है अब स्मृति प्रमाण देते हैं। मैं प्रजापति तथा शिव को उत्पन्न करता हूँ एवं नाश करता हूँ–वे मेरी माया से मोहित हैं मेरे को नहीं जानते। जिनके परमपद को भगवान् (समर्थ) ब्रह्मा भी नहीं जानते, उस जगद्धाम सर्वस्वरूप सर्वगत अच्युत को हम प्रणाम करते हैं। परमेश्वर विष्णु के परमपद को देवता मुनि शंकर तथा हम भी नहीं जानते। ऐसा वराहपुराण का वचन है।

अष्टमश्लोक सम्पूर्ण हुआ।

एवंप्रपत्तियोगमुक्त्वाथेदानीं भक्तियोगमाह--

एवंप्रपत्तियोगमुक्त्वा–अथेदानीं भक्तियोगमाह–अनुवाद–एवं इस प्रकार से प्रपत्तियोग को कथन करके उससे अनन्तर अब भक्तियोग को कहते हैं।

कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते यया भवेत्प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः सा चोत्तमा साधनरूपिकाऽपरा।।९।।

इस परमात्मा की कृपा–दैन्यादि साधन युक्त पुरुष पर होती है। उस कृपा से अनन्याधिपति महातमा (महानात्मा) की प्रेमविशेषलक्षण वाली भक्ति उत्पन्न (आविर्भूत) होती है। वह प्रेम लक्षणा भक्ति उत्तमा है। साधनरूपिका भक्ति अपरा है (अर्थात् प्रेम लक्षणा भक्ति को पराभक्ति कहते हैं साधनरूपा भक्ति को अपरा भक्ति (परा से भिन्न) भक्ति कहते हैं।।९।।

कृपास्येति। अस्य निरतिशयस्वाभाविककारुण्यवात्सल्यक्षमा-सौहार्द्रसत्यप्रतिज्ञत्वादिगुणाब्धेः श्रीकृष्णस्य कृपा दैन्यादियुजि पुंसि जायते इति योजना।

उपाया नैव सिद्ध्यन्ति ह्यपाया विविधास्तथा।
इति या गर्वहानिस्तद्दैन्यं कार्पण्यमुच्यते।।

इति वचनात्। दैन्यं कार्पण्यमादिर्यस्याः सा दैन्यादिः पूर्वोक्ता षडङ्गा शरणागतिस्तां युनक्तीति दैन्यादियुक् तस्मिन् शरणागतिसम्पन्ने ह्यनुप्रपन्ने जनेऽस्य कृपा जायत इत्यर्थः। दैन्यादियुजीत्यनेन पदेन पूर्वोक्तो-पायेषु प्रपत्तेः प्राधान्यता सूचिता।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत !।
तत्प्रसादादवाप्नोषि शाश्वतं पदमव्ययम्।।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते। इति श्रीमुखोक्तेः।

ननु यद्यसमर्थः स्यात्तर्हि तस्य केवलं कृपैव किं करिष्यतीत्याशङ्कानिरासार्थं विशेषणमाह अनन्याधिपतेरिरिति। अन्योऽधिपतिर्यस्य सोऽन्याधिपतिः नान्याधिपतिरनन्याधिपतिस्तस्यानन्याधिपतेः अतिशयसाम्यानर्हस्वरूपगुणादिकस्येत्यर्थः।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनैकमीड्यम्।।
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके।
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गं न तस्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः।
स कारणं कारणाधिपाधिपः,
न त्वत्समश्चाभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः।।

इत्यादिस्मृतिभ्यः। इत्यनेन सर्वसामर्थ्यवत्त्वं सर्वोत्कृष्टत्वं च द्योतितम्। अत एव महात्मन इति। महानात्मा स्वरूपं यस्य तथा स तस्य विश्वात्मत्वात्, अनेन सर्वजीवनिकायेङ्गितवेत्तृत्वमुक्तम्। असौ प्रपन्नोऽमायया मां भजति प्रपत्तिव्याजेन यो मां न वञ्चयति इति प्रत्यक्षेण पश्यत इति भावः।

यद्वा महांश्चासावात्मा तथा स तस्य महत्वं च औदार्य्यक्षमावात्सल्यसौशील्यादिमहद्गुणाश्रयत्वम्। इत्यनेन भक्तिप्रपत्त्यङ्गानुष्ठानानर्हाणां तद्व्याजमात्रेणापि भजतां निरतिशयकारुण्यौदार्य्यक्षमादिगुणपरवशतया तेषां गुणदोषादीननवकलय्य भक्तिप्रपत्तिफलप्रदातृत्वमुक्तं भवति। किञ्च प्रपत्तियोगस्य संयोगपृथक्त्वन्यायेन स्वातंन्त्र्योपायत्वं भक्त्याद्युत्पादकत्वं चाविरुद्धम्। तत्र स्वतन्त्रोपायत्वं पूर्वमेवोक्तमिदानीं भक्तिसाधनत्वमुच्यते ययेति। यया प्रपत्त्युद्बोधितया भगवत्कृपया भक्तिर्भवेदिति सामान्योक्तिः। तल्लक्षणं च निष्कामतया भगवत्सेवनं तथा च श्रुतिः ''भक्तिरस्य भजनमिति''। तत्रेहामुत्र फलनैराश्येनैवास्मिन्मनः सङ्कल्पमिति। व्याख्याता चेयं पञ्चरात्रे।

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।

हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते। लिङ्गपुराणेऽपि-

भज इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्त्तितः।

तस्मात्सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिशब्देन भूयसी।।

भजनं भक्तिरित्युक्तं वाङ्मनः कायकर्मभिः।

इति। साधनफलभेदेन भक्तेर्द्वैविध्यतामाह सेति। यत्तदोर्नित्य-सम्बन्धात् या भक्तिः प्रेमलक्षणा कर्मयोगाद्यनुष्ठानरूपाज्ञापालनव्याज-प्रसन्नेन भगवता दीयमाना त्वम्पदार्थविषयकज्ञानोत्तरा भवेत्, सा भक्तिः उत्तमा फलरूपा परादिशब्दाभिधेयाउच्यते रूपादिविषयकेन्द्रियवृत्तिवदन-वच्छिन्नस्वाभाविकभगवत्स्वरूपगुणावयवादिविषयकयावदात्मवृत्तिमनो-वृत्तिरित्यर्थः।

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।

त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु।।

इति। सैव ध्रुवा स्मृतिरुच्यते।। ''आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिरि''ति श्रूयते।।

नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्यमुक्ता उपासते।

इति भगवदुक्तेश्च। तस्याः ज्ञानोत्तरभावित्वं स्वयमेव गीतम्-

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।इति।

च पुनः या अपरा सा साधनरूपिका भक्तिरुच्यते। अनेकजन्मा-नुष्ठितपुण्यपुञ्जोत्पन्नायाः भक्तेः साधनजन्यत्वात्साधनरूपिकेति भावः।

जन्मान्तरसहस्रेषु तपोदानसमाधिभिः।

नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते।।

इति वचनात्। सा भक्तिर्द्विधा वैदिकपौराणिकादिभेदात्। तत्र वैदिकानुष्ठानरूपा मधुविद्याशाण्डिल्यविद्यासत्यविद्यादयस्तत्र त्रैवर्णिका-नामेवाधिकारस्तच्चोक्तम् शूद्राधिकरणे श्रीश्रीनिवासाचार्यचरणैरतोऽत्र न लिख्यते। पुराणोक्तरीत्या भगवदाराधनपरता द्वितीया। तत्र शूद्रोऽप्यधिक्रियते--

सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र हरिभक्तौ यथा नृप।

इति पाद्मोक्तेः। साधनीभूता=साधनरूपिका।।

सुरर्षे! विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया।
सैव भक्तिरिति प्रोक्ता यया भक्तिः परा भवेत्।।
इति पञ्चरात्रोक्तेः। तत्र सामान्यक्रियाविधानात्सर्वेऽप्यधिक्रियन्ते।
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

इति श्रीमुखोक्ते अत्र स्वे स्वे इति मानव इति च सामान्यपद-प्रयोगात्तस्या अधिकारिणः सामान्यं सूचितम्।

इति श्रीलघुमञ्जूषायां साधनसङ्ग्रहाधारो नाम
तृतीया कोष्ठिका समाप्ता।।३।।

अस्य=इसका अन्वर्थ=श्रीकृष्णस्य कृपा दैन्यादियुजि पुंसि जायते इतियोजना-श्रीकृष्ण की कृपादैन्यादि संयुक्त पुरुष पर होती है। श्रीकृष्ण के विशेषणों का कथन करते हैं-वह निरतिशय स्वाभाविक कारुण्य-वात्सल्य क्षमा-सौहार्द सत्यप्रतिज्ञत्वादि गुणों के सागर है। दैन्य और कार्पण्य समानार्थ के वाचक है-दैन्यम्=कार्पण्यादि-यस्य अर्थात् पूर्वोक्त शरणागति सम्पन्न अनुप्रपन्न पुरुष पर अस्य=श्रीकृष्ण की कृपा होती है-दैन्यादियुजि'' इस पद से यह सूचित होता है कि पूर्वोक्त कर्मयोगादि साधनों में शरणागति की प्रधानता है। इसमें गीता का प्रमाण है-हे भारत? सर्व के हृदय में विराजमान भगवान् की सर्वभावेन शरण में जाओ उनकी कृपा से अव्यय तथा शाश्वत पद को प्राप्त करोगे। जो मेरी शरण में आते हैं वह माया कृत बन्धन से पार हो जाते हैं-ऐसा श्रीमुख वचन है।

शङ्का--यदि जीव असमर्थ होगा तब उस पर केवल कृपा क्या करेगी ऐसी शंका पर विशेषण देते है-''अनन्याधिपतेरिति'' जिसका अन्य स्वामी है उसको अन्याधिपति कहते हैं-जिसका अन्य स्वामी नहीं है उसको अनन्याधिपति कहते हैं। अतिशय साम्य के अयोग्य स्वरूप गुणादिक जिनके हैं। इसमें प्रमाण देते हैं-वह ईश्वरों के भी परम ईश्वर है देवताओं के भी परम देवता हैं। स्वामियों के भी परम स्वामी हैं वह सर्वश्रेष्ठ हैं इस भुवन में वही

एक स्तुत्य हैं ऐसा हम जानते हैं। उनके सम तथा अधिक कोई दीखता नहीं इस लोक में उनका कोई स्वामी नहीं। उनका शासन कर्त्ता कोई नहीं उनका कोई लिङ्ग-ज्ञापक हेतु नहीं। उनका कोई जनक नहीं एवं कोई स्वामी नहीं। वह कारणों के कारण अधिपों के अधिप है।

गीता में अर्जुन कहते हैं--

जब आपके समान ही कोई नहीं तो अधिक कैसे होगा। तीनों लोकों में आप अप्रतिम प्रभाव वाले हैं। इन प्रमाणों से यह ज्ञापित होता है कि श्रीकृष्ण सर्वसामर्थ्ययुक्त एवं सर्व उत्कृष्ट हैं। अतएव महात्मनः इति- सर्व उत्कृष्ट होने से ही महात्मा कहा-जिसका आत्मा=स्वरूप महान् है- स तथा=वह महात्मा है। इससे यह सूचित होता है कि वह सर्व जीवों की चेष्टित वस्तु को जानते हैं। यह प्रपत्ति जीव कपट रहित होकर मेरा भजन करता है-शरणागति के बहाने मेरे को ठगता नहीं है ऐसा प्रत्यक्ष देखते हैं।

अथवा=महान् वह आत्मा । उसको महात्मा कहते हैं उसका महत्व यह है कि वह उदारता क्षमा वात्सल्य सौशील्यादि महान् गुणों का आश्रय है।

इससे यह सूचित होता है कि जो व्यक्ति भक्ति तथा शरणागति के अङ्गों का अनुष्ठान करने के अयोग्य है एवं भक्ति तथा शरणागति के ब्याज मात्र से भजन करते हैं-भगवान् निरतिशय कारुण्य तथा क्षमादि गुणों के आधीन होकर उनके गुण तथा दोषों की ओर ध्यान न देकर भक्ति तथा शरणागति फल को प्रदान करते हैं। (अर्थात् उनका कल्याण करते हैं)

शङ्का--प्रपत्तियोग का ''संयोग पृथक्त्वन्याय से स्वतन्त्र साधनता तथा भक्ति की जनकता में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। (संयोग पृथकत्व न्याय का स्वरूप इस प्रकार है=''एकस्योभयत्वे संयोगपृथकत्वम्-एक कर्म को उभयत्व=अनेक फल का सम्बन्धि होने पर उभय सम्बन्ध के बोध वाक्य का भेद होता है-जैसे 'दध्ना जुहोति' दधि के द्वारा होम करे। तथा ''दघ्नेन्द्रियकामो जुहुयात्'' इन्द्रियों की पुष्टि की कामना वाला दधि से होम करे। प्रथम वाक्य में दधि होम से नित्यकर्म की सिद्धि होती है अतः दधि होम नित्य कर्म का सम्पादक होने से नित्यकर्म का अङ्ग हैं-द्वितीय वाक्य में दधिहोम काम्य कर्म का फल इन्द्रिय पुष्टि का सम्पादक होने से काम्य कर्म

का अङ्ग है अतः दोनों वाक्यों का भेद होने से दोनों कर्म भिन्न हैं)

तत्र-उन दोनों में स्वतन्त्रोपाय (साधन) को प्रथम कहा गया। (अर्थात्-नान्यगतिः'' इस श्लोक में प्रतिपादन किया गया) (इदानीम्) इस समय (भक्ति का साधन) प्रपत्तियोग है इस बात को कहते हैं-ययेति। यया=प्रपत्ति से उद्‌बोधित भगवत् कृपा से-भक्तिभवेदिति सामान्योक्ति=भक्ति होती है ऐसा सामान्य रूप से कहा (भक्ति का स्वरूप एवं लक्षण नहीं बताया) निष्काम रूप से भगवत् सेवन यह भक्ति का लक्षण है। इसमें श्रुति प्रमाण देते हैं। ''भक्तिरस्य भजनमिति'' इस परमात्मा का भजन ही भक्ति है। तत्रेहामुत्रफलनैराश्ये नैवास्मिन्मनः सङ्कल्पमिति। (गोपालतापनी अध्याय २/ मन्त्र २) इस लोक तथा परलोक के फल की कामना शून्य होकर श्रीकृष्ण के अधीन मन का हो जाना-मन उपलक्षण है सम्पूर्ण इन्द्रियों का भगवदधीन हो जाने को भक्ति कहते हैं। इसका ही व्याख्यान पञ्चरात्र में किया है।

सर्व कामना से रहित होकर-भगवद् परत्वेन निर्मल, सर्वेन्द्रियों से इन्द्रियों के प्रेरक भगवान् की सेवा ही भक्ति कही गई है। लिङ्ग पुराण में भी इस प्रकार कहा है-''भज'' यह धातु सेवार्थक है। इस कारण से विद्वानों ने अधिक सेवा को ही भक्ति कहा है। मन वाणी तथा शरीर से भजन को भक्ति कहा है। साधन तथा फल के भेद से भक्ति के दो भेदों को कहते हैं 'सेति' यत् तथा तत् शब्द का नित्य सम्बन्ध होने से-''याभक्ति'' जो भक्ति प्रेमस्वरूपा है कर्मयोगादि। अनुष्ठानरूपाज्ञापालन से प्रसन्न भगवान् के द्वारा दी गई है त्वं पदार्थ (जीवात्मा) के ज्ञान के पश्चाद् होती है सा भक्ति=वह भक्ति उत्तमा फलरूपा परा-इत्यादि शब्दों से कही जाती है। रूपादि को विषय करने वाली इन्द्रियवृत्ति के समान-निरन्तर स्वाभाविक भगवान् के गुणादि को विषय करने वाली आत्मस्थिति पर्यन्त रहने वाली मनोवृत्ति का नाम पराभक्ति है। इसके विषय में भक्तराज प्रह्लादजी का (विष्णु पुराण में) वचन प्रमाण है।

हे प्रभो! अज्ञानियों की विषय में जैसी अनुपायनी प्रीति होती है वैसी मेरी प्रीति आपके श्रीचरणों के हो जाये वह कभी भी मेरे चित्त से निंकले नहीं। वही 'ध्रुवास्मृति' कही जाती है।

इसमें श्रुति प्रमाण देते हैं-विषय रूप आहार की शुद्धि होने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है अन्तःकरण की शुद्धि से अनन्तर 'ध्रुवास्मृति' होती है। गीता में भगवान् कहते हैं-भक्ति से (प्रेम से) मेरे को प्रणाम करते हुये नित्ययुक्त=निन्तर समाहित होकर मेरी उपासना करते हैं। तस्याः=उस भक्ति का ज्ञानोत्तर भावित्व स्वयं भगवान् बताते हैं-जो पुरुष ब्रह्म रूप प्रसन्न चित्त है न शोक करता है न किसी पदार्थ की इच्छा करता है सर्वभूतों में समचित्त है वह मेरी पराभक्ति को प्राप्त करता है।

च=पुनः या अपरा-जो अपरा भक्ति है-सा=वह साधन रूप भक्ति कही गई है। (इसकी साधनरूप संज्ञा इस लिये है कि) अनेक जन्म में अनुष्ठित पुण्य पुंज से उत्पन्न भक्ति को साधन जन्य होने से साधन रूपता है। इसमें प्रमाण देते हैं-सहस्र जन्मों में, तप दान तथा समाधि के द्वारा जिनके पाप क्षीण हो गये हैं ऐसे पुरुषों के हृदय में श्रीकृष्ण की भक्ति-उत्पन्न होती है। वह साधनरूपा भक्ति वैदिक तथा पौराणिक भेद से दो प्रकार की है। वैदिकानुष्ठान रूप भक्ति-मधुविद्या शाण्डिल्य विद्या सत्य विद्यादि रूप है। उसमें त्रैवर्णिकों का ही अधिकार है-इसका उल्लेख श्रीश्रीनिवासाचार्य चरणों ने शूद्राधिकरण में किया है-अतः इसका उल्लेख नहीं किया। पुराणोक्त प्रकार से भगवद् आराधना रूप द्वितीय भक्ति है-इसमें शूद्र का भी अधिकार है। पद्मपुराण में कहा है-हे राजन् जैसे हरि भक्ति के सभी अधिकारी हैं वैसे इसमें सभी का अधिकार है।

साधनरूपा का अन्य प्रकार से निरूपण करते हैं-यद्वा-साधनीभूता भक्ति साधनरूपा है-(यद्वा पराभक्तेः साधनभूता साधनरूपिका) पराभक्ति का साधन होने से इसकी साधनरूपिका संज्ञा है पंचरात्र का वचन है--

हे नारद! हरि को उद्देश्य बनाकर जो क्रिया शास्त्र में विहित है वही भक्ति है उससे पराभक्ति होती है-वहां पर सामान्य क्रिया का विधान होने से इसके सभी अधिकारी हैं। इसी सिद्धान्त को गीता में कहा है-स्वस्व कर्म में अभिरत पुरुष संसिद्धि को प्राप्त करते हैं-स्वकर्म में निरत पुरुष जिस प्रकार से सिद्धि को प्राप्त करता है उसको श्रवण करो। जिससे भूतों की प्रवृत्ति होती है जिससे सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। स्वकर्म से उसकी पूजा करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है। यहां ''स्वेस्वे'' एवं ''मानव'' इस सामान्य शब्द

का प्रयोग होने से इसके सभी अधिकारी हैं ऐसा सूचित होता है।

एवं पूर्वप्रकरणे संक्षेपेण साधनकदम्बमुक्त्वाऽथेदानीमत्र फल-विवक्षया सर्वशास्त्रार्थं सङ्गृह्णन् पूर्वप्रतिपादितमर्थं सङ्ग्रहेण संस्मारयति मन्दमतीनामुपकाराय भगवान् ग्रन्थकारः--

एवम्=इस प्रकार से–पूर्वप्रकरण में साधन समुदाय को कहकर–अथ=अनन्तर–इस समय–यहाँ पर फल को कथन करने की इच्छा से सर्व शास्त्रार्थ को संग्रह करते हुये भगवान् ग्रन्थकार मन्दबुद्धि वालों के उपकार के लिये पूर्व कथितार्थ का संग्रह रूप से स्मरण कराते हैं।

उपास्यरूपं तदुपासकस्य च कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम्।
विरोधिनो रूपमथैतदाप्तेर्ज्ञेया इमेऽर्था अपि पञ्च साधुभिः।।१०।।

साधुओं को चाहिये कि अपने उपास्य (भगवान्) उपासक (जीव) और भगवद् कृपा का फल, भक्तिरस तथा भगवत्प्राप्ति एवं भक्ति के विरोधि तत्त्व, इन पांचों के स्वरूप को अच्छे प्रकार से जान ले।।१०।।

उपास्यरूपमिति। इमे पञ्चाप्यर्थाः साधुभिर्ज्ञेया इत्यन्वयः। तत्रोपास्यस्य भगवतः श्रीपुरुषोत्तमस्य रूपं स्वाभाविकाचिन्त्यानन्तासंख्येययावदात्मवृत्तिसार्वज्ञादिवात्सल्यकारुण्यादिकल्याणगुणाश्रयत्वमनन्तानवद्यप्रकाशात्मकनिरतिशयमार्दवयौवनसौन्दर्य्यादिदिव्यगुणनिलययोगिध्येयदिव्यमङ्गलविग्रहवत्त्वं च स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमित्यादिना प्रतिपादितम् (१)

तदुपासकस्येति। तस्य भगवत उपासको जीवात्मकदम्बस्तस्य रूपं देहेन्द्रियादिजडवर्गेभ्यो विलक्षणत्वं ज्ञानस्वरूपत्वे सति ज्ञानाश्रयवत्त्वं भगवदायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिकत्वादिकमप्युक्तम् ज्ञानस्वरूपं चेत्यादिना। कृपाफलमिति। श्रीभगवत्कृपायाः फलं मोक्षलक्षणसर्वकर्मध्वंसाभावपूर्वकसमस्तनिःशेषाविद्यानिवृत्त्यात्मकपरिपूर्णयावदात्मभाविब्रह्मस्वरूपादिविषयकानुभूतिसन्ततिर्मुक्तिरिति तदेव भगवद्भावापत्तिसायुज्यसाम्यादिशब्दैरभिधीयते 'परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिसम्पद्यते' इति श्रुतेः।

निरस्तातिशयाह्लादसुखभावैकलक्षणा।
भेषजं भगवत्प्राप्तिरेकान्तात्यन्तिकी मता।।
इति पराशरविष्णुवशंकर्णपञ्चरात्रोक्तेः।

यद्वा भक्तिरसः भक्त्या भक्तिरस इति भक्तेः रसः प्रेमानन्दफल-रूपा भक्तिरिति यावत्।

मनोगतिरविच्छन्ना हरिप्रेमपरिप्लुता।
अभिसन्धिविनिर्मुक्ता भक्तिश्च तेऽनुभूयते।। इति

तथा श्रीभगवत्साक्षात्कारानुभवः ''भक्तिरेनं दर्शयति भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसीति'' श्रुतेः।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।।

इति गानाच्च। उपलक्षणं चैतत्सर्वोपायानां कर्मज्ञानभक्तिप्रपत्त्या-दिरूपमिति यावत्। अनेन श्रीभगवद्भावापत्तिलक्षणमोक्षप्राप्तिक्रमो विवक्षितः। तथाहि-प्रथमं जायमाने पुंसि भगवत्कृपाकटाक्षस्ततो जन्मनैव सात्त्विको भूत्वा मुमुक्षुः स्यात्तथा च नारायणीये--

जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः
सात्त्विकः स तु विज्ञेयः स वै मोक्षार्थचिन्तकः।।
पश्यत्येनं जायमानं ब्रह्मा रुद्रोऽथवा पुनः।
रजसा तमसा चैव मानसं समभिप्लुतम्।।

इति मुमुक्षायां सत्यां तत्साधने यतते ततः कर्मज्ञानादिसाधने-नाप्याराधितः पुरुषोत्तमः प्रसीदति परभक्तिपरज्ञानयोरेकतरं व्याजीकृत्या-त्मानं दर्शयति तस्मै मुमुक्षवे ततः श्रीभगवत्साक्षात्कारानुभवेन तद्भावापन्नो भवतीति सङ्क्षेपः।

ज्ञानभक्तिमतामेव भगवत्प्रेष्ठत्वेन तत्प्रसादजन्यसाक्षात्कारेण मोक्षभागित्वमिति भावः।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।
ज्ञानी त्वामेव मे मतम्,
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्मे प्रियो नरः।।

इत्यादिवाक्येभ्यः, ''यस्य देवे परा भक्ति''रिति श्रुतेश्च। स एवभगवत्प्रसादविषयः--

कुर्वतस्ते प्रसन्नोऽहं भक्तिमव्यभिचारिणीम्।।

इति स्मरणात्।

तत्प्रसादादवाप्नोषि शाश्वतं पदमव्ययम्।।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।

मत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम् तमक्रतुं पश्यति वीतशोकः धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः भिद्यते हृदयग्रंथिः,

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।

तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।

इति श्रुतिस्मृतिभ्यः।।४।।

अथैतदाप्तेर्विरोधिनो रूपमिति। एतस्य श्रीरमाराधाकान्तस्य श्रीकृष्णस्याप्तेर्विरोधिनो रूपं ज्ञेयं साधुभिः। स विरोधी द्विविधः सामान्यविशेषभेदात्। तत्र विशेषा उच्यन्ते। तत्र तावत् स्वस्वरूपज्ञान-विरोधिनो ह्यात्माऽज्ञानद्वारा भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकाः आत्मस्वरूपान्य-थाभावदार्ढ्यहेतुत्वात्। देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिष्वनात्मस्वात्मत्वाध्यवसायः आत्मनो भगवदीयत्वेऽसम्भावनादिश्रुतिस्मृत्यात्मकभगवदीयाज्ञोनोपेक्षा अन्यदेवार्चननमस्कारादि असच्छास्त्राभिलाषा आत्मस्वातन्त्र्यभावेन अहङ्कारममकारभावदार्ढ्यं चेत्येवमादयः। तथा च--

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।

''न चेदवेदीन्महती विनष्टि'' रित्यादिश्रुतेः।

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।।

किन्तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा।

इति स्मृतेश्च।।१।।

किञ्च भगवति देवान्तरसाम्यभावः ब्रह्मशिवादिदेवान्तरवर्गे परत्त्वबुद्धिः श्रीभगवदवतारेषु मानुष्यतिर्यक्त्वादिभावः भगवदर्चादिविग्रहेषु शालिग्रामादिषु पाषाणलोहमयत्वाचेतनत्वादिभावः भगवदीयमन्त्रादौ शब्दसामान्यभावः भगवदीयगाथायां लौकिकाख्यानसादृशकल्पना अनन्तानवद्यस्वाभाविकाचिन्त्यगवदात्मभाविकल्याणगुणसागरे परब्रह्मणि श्रीवासुदेवे निर्गुणत्वमायिकगुणवत्वादिभावना चेत्यादयो भगवत्स्वरूपति-

रोधानेन तत्प्राप्तिप्रतिबन्धकाः 'यो वै स्वां देवतामतियजति परस्वायै देवतायै च्यवते न परां प्राप्नोति पापीयान्भवति तमेवैकं विजानथ आत्मानमन्यथा वाचो विमुञ्चथे''त्यादिश्रुतेः। प्राजापतिस्मृतौ--

नारायणं परित्यज्य हृदिस्थं प्रभुमीश्वरम्।
योऽन्यमर्चयते देवं परबुद्ध्या स पापभाक्।।

भारते च सप्तर्षिसम्वादे--

विष्णु ब्रह्मण्यदेवेशं देवदेवं जनार्दनम्।
त्रैलोक्यस्थितिसंहारसृष्टिहेतुं निरञ्जनम्।।
सुधातारं विधातारमधातारञ्जगद्गुरुम्।
विहाय स भजत्यन्यं विषस्तैन्यं करोति यः।। इत्यादि।
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।।
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीञ्चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।। इति।
यो विष्णोः प्रतिमाकारे लोहबुद्धिं करोति वा।
यो गुरौ मानुषं भावमुभौ नरकपातिनौ।।

इति स्मृतेः।

न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।
य सर्वज्ञः सर्ववित्, अनन्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ, इत्यादि प्रमाणानि क्रमेणानुसन्धेयानि।।२।।

किञ्च स्वदोषबाहुल्यानुसन्धानेन भगवति भारपातभिया तत्प्रपत्त्याद्युपाये लाघवकल्पना प्रपत्तव्ये विश्वासाभावः साधनान्तरनिष्ठा मन्त्रान्तरपरिग्रहः श्रीभगवन्मन्त्रजपपूजादिलक्षणकैङ्कर्यात्कामान्तराभि-लाषा भगवदाज्ञापालनरूपस्वधर्माचारलक्षणपरिचर्यायां स्वपुरुषार्थ-साधनत्वाभिमानः श्रीभगद्रूपे बहिर्यामिनि गुरौ मर्त्यबुद्धिः तत्रैव गौरवखिल-त्वमित्यादयश्चोपायहानिद्वारा तत्प्राप्तिप्रतिबन्धकाः उपायनाशहेतुत्वात्। एतेषां च श्रीगुरुगौरवविश्वासाद्यभावमूलककृतघ्नताहेतुकत्वात् सर्वेषां गुरुशिक्षितत्वेन गुरुभक्तिनाशान्नाशः गुरुभक्तेरुपायस्य व्याप्तेरव्यभिचार-श्रवणात्--

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।

इति श्रुतेः। तस्माद्गुरौ नान्यथाभाव आरोपणीयः, तथा च गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः।

''स हि विद्यां जनयति, तच्छ्रेष्ठं जन्म तस्मै न द्रुह्येत कथञ्चने''ति श्रुतेः।

एकाक्षरप्रदातारमाचार्यं योऽवमन्यते।
श्वानयोनिशतं प्राप्य चाण्डालेषूपजायते।
यो विष्णोः प्रतिमाकारे लोहबुद्धिं करोति वा।।
यो गुरौ मानुषं भावमुभौ नरकपातिनौ।।

इतिस्मृतेश्च।।३।।

किञ्च धर्मादिवर्गेषु पुरुषार्थबुद्ध्या तत्प्राप्तीप्साभगवत्परिचर्यादि-क्रियानुष्ठाने स्वस्वातन्त्र्यभावनायथेष्टाचारेण शास्त्रविरुद्धतया प्रवृत्तिश्चेति। एते न फलविरोधितया भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकाः--

अन्नं पानं धनं वस्त्रमायुरैश्वर्यमास्पदम्।
आपद्यपि न याचेत पूजकः पुरुषोत्तमम्।।
नाप्रसन्नो ददाम्येतद्याचितोऽपि दिनेदिने।
अयाचितोऽपि तत्सर्वं प्रसन्नो विदधाम्यहम्।।
याचितोऽपि सदाभक्तैर्नाहितं कारयेद्धरिः।
बालमग्निं पतन्तन्तु माता किं न निवारयेत्।।
तत्पादभक्तिज्ञानाभ्यां फलमन्यत्कदाचन।
न याचेत पुरुषो विष्णुं याचनान्नश्यति ध्रुवम्।।

अहममरगणार्चितेन धात्रा यम इति लोकहिताहिते नियुक्तः।
हरिगुरुवशगोऽस्मि न स्वतन्त्रः प्रभवति संयमने ममापि विष्णुः।।

वेदोक्तं ये परित्यज्य धर्ममन्यं प्रकुर्वते।
तत्सर्वं तव दैत्येन्द्र! मत्प्रसादाद्भविष्यति।।
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामचारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्यव्यवस्थितौ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।

इत्यादिवचनेभ्यः।।४।।

किञ्च देहादौ बहुकालावस्थानेच्छा श्रीभगवतो भागवतानां चाभिजात्याद्यभिमानेन बुद्धिपूर्वकावज्ञाद्यपराधाचरणं ह्यसतां सङ्गतिश्च सद्यः साक्षात्प्राप्तिप्रतिबन्धका निरयप्राप्तिहेतवो महत्प्रयत्ने वर्ज्जनीयाः।

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवनम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्वेशं भृतको यथा।
प्रायशः पापकारित्वान्मृत्योरुद्विजते जनः।।
कृतकृत्याः प्रतीक्षन्ते मृत्युं प्रियमिवातिथिम्।।

इतिव्यासोक्तेः। ''न च मां योऽभ्यसूयति'' हरिवंशे श्रीवामनो बलिं प्रति--

पुण्यं मद्द्वेषिणां यच्च मद्भक्तद्वेषिणां तथा।
कथासु मम दैत्येश! कथ्यमानासु तत्र वै।।
अशृण्वन्यो नरो गच्छेत्तस्य संवत्सरार्जितम्।
यत्नेन महता तात तत्पुण्यं ते भविष्यति।।

वनपर्वणि दुर्वासा शिष्यान्प्रति--

वृथा पापेन राजर्षेरपराधः कृतो महान्।।
मास्मान् धाक्षुर्दृष्ट्वैव पाण्डवाः क्षुरचक्षुषा।
स्मृत्वानुभावं राजर्षेरम्बरीषस्य धीमतः।।
विभेमि सुतरां विप्रा हरिपादाश्रयाज्जनात्।
पाण्डवाश्च महात्मानः सर्वे धर्मपरायणाः।।
सदाचाररता नित्यं वासुदेवपरायणाः।
क्रुद्धस्ते निर्दहेयुर्वो तूलराशिमिवानलः।।
तत एतानदृष्ट्वैव शिष्याः शीघ्रं पलायत।।

वैष्णवे प्रह्लादः--

मयि दोषानुबन्धोऽभूत् संस्तुतावुद्यते तव।
मत्पितुस्तत्कृतं पापं देव तस्य प्रणश्यतु।।
त्वयि भक्तिमतो द्वेषादघं तत् संभवेच्च यत्।
त्वत्प्रसादात्प्रभो सर्वं तेन मुच्येत मत्पिता।।

इति। नेदंविद अनिदंविदान् समुद्दिशेन्न सह भुञ्जीत नावसथमाविश्यादित्यादिबह्वृचां समाम्नायः। कात्यायनसंहितायां--

वरंहुतवहज्वालापञ्जरान्तर्ब्यवस्थितिः।
न शौरिचिन्ताविमुखजनसम्वासवैशसम्।।

विष्णुरहस्ये--

आलिङ्गनं वरं मन्ये व्यालव्याघ्रजलौकसाम्।
न सङ्गः शल्ययुक्तानां नानादेवापसेविनाम्।।

अन्यत्राऽपि--

शैवान् पाशुपतान् स्पृष्ट्वा लोकायतिकनास्तिकान्।
अकर्मस्थान् द्विजांश्च्छूद्रान् सवासा जलमाविशेत्।।

शाण्डिल्यस्मृतौ च--

मूढैः पापरतैः क्रूरैः सदागमपराङ्मुखैः।
सम्बधं नाचरेद्भक्तो नश्यति तैस्तु सङ्गमात्।।

पितृगीते च--

माजनिष्ट स नो वंशे जातो वा प्राग्विनश्यताम्।
आजन्ममरणं यस्य वासुदेवो न दैवतमिति।।

विष्णुपुराणे च--

पुसां जटाभरणमौढ्यवतां वृथैव
मोघाशिनामखिलशौचबहिष्कृतानाम्।।
तोयप्रदानपितृपिण्डनिराकृतानाम्
सम्भाषणादपि नरा नरकं प्रयान्ति।
पाखण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालवृत्तिकान् शठान्।।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्।
धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छाद्मिको लोकदाम्भिकः।।
वैडालवृत्तिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वातिवञ्चकः।
अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः।।
शठो मिथ्याविनीतश्च बकवृत्तिचरो द्विजः।।इति।
मूर्खाश्च पण्डितम्मन्या अधर्मा धार्मिका इव।।
धर्मयुक्तान् प्रबाधन्ते साधूनां लिङ्गमाश्रिताः।

इति शाण्डिल्यवचनं इत्याद्यन्यदपि शास्त्रमत्रानुसन्धेयम्।।

अथ सामान्यभूता उच्यन्ते। तत्र मर्यादोल्लङ्घनं ''श्रुतिस्मृतिममै-वाज्ञे'' इति स्वोचितधर्मत्यागः वर्णान्तरोचितधर्माचारश्च।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।
ऋग्यजुसामसंज्ञेय त्रयीवर्णावृतिर्द्विज।
एतामुज्झति यो मोहात् स नग्नः पातकी स्मृतः।।
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थस्तथाश्रमी।
परिव्राट्च चतुर्थोऽत्रपञ्चमो नोपपद्यते।।
संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु।
यदन्यत्कुरुते कर्म न तस्य फलभाग्भवेत्।।
नास्तिक्यपरमाश्चैव केचिद्धर्मविलोपकाः
भविष्यन्ति नरा मूढाः मन्दाः पण्डितमानिनः।।
वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम्।।
वेदोक्तं ये परित्यज्य धर्ममन्यं प्रकुर्वते।
तत्सर्वं तव दैत्येन्द्र मत्प्रसादाद्भविष्यति।।

इत्यादिवाक्येभ्यः अन्वयव्यतिरेकगर्भितेभ्यः कृतघ्नत्वं तथाह।

मनुः--

गोघ्ने चैव सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः।।
सत्कृताश्च कृतार्थाश्च मित्राणां न भवन्ति ये।
तान्मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते।।इति।।

मानुष्यं लब्ध्वा तस्य निरर्थकं शूकरादिवन्नाशनं--

मानुष्यं प्राप्य लोकेऽस्मिन् मूको वा बधिरोऽपि वा।
नापक्रामति संसारात् स खलुर्ब्रह्महा भवेत्।।

वाराहे च--

लब्ध्वा मानुषं देहं पञ्चभूतसमन्वितम्।
मामेव न प्रपद्यन्ते ततो दुःखतरं नु किम्।।

नारसिंहे च--

शुभमिदमुपलभ्य मानुषत्वं सुकृतशतेन वृथेन्द्रियार्थहेतोः।
रचयति कुरुते न मोक्षमार्गे स दहति चन्दनमाशु भस्महेतोः।।

इति।

स्ववीर्यविक्रयणं च--

यथा स्ववान्तमश्नाति श्वा वै नित्यं स्वभूतये।
एवं ते वान्तमश्नन्ति स्ववीर्यस्यावसेचनात्।।

इति सनत्सुजातवचनात्। तच्च द्विविधं बाह्याभ्यन्तरभेदात्। बाह्यं परस्त्रीगमनादि।

कृष्णाजिनपरिग्राही रेतसश्चैव विक्रयी।
गजच्छायानुभोक्ता च न भूयः पुरुषो भवेत्।।

इति वचनात्। द्वितीयं विद्यादिगुणविक्रयणम्।

पण्डितैरर्थकार्पण्यात् पण्यस्त्रीभिरिव स्वयम्।।
आत्मा संस्कृत्य संस्कृत्य परोपकरणीकृतः।

इत्यादिस्मृतेः। विद्याबलेन विजिगीषया ब्राह्मणाद्यपमानः

वादेन ब्राह्मणं जित्वा हृष्टो भवति यो द्विजः।।
श्मशाने पादपः स स्यात् गृध्रकङ्कनिषेवितः।
गुरुं हुंकृत्य तुंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः।।
अरण्ये निर्जले स्थाने स सम्भवेद्ब्रह्मराक्षसः।।इति।

भगवदाराधनात् प्राक् भक्षणपानादिना।।

यो मोहादथवालस्यादकृत्वा देवतार्चनम्।
भुङ्क्ते स याति नरकान् शूकरेष्वभिजायते।।

संन्यासादिविधिं विधाय वैराग्यहीनैः पुरुषैर्द्वेषादिना मातृपित्रादि-त्यागः--

पितरं मातरं वापि तथादत्ताभयं सुतम्।
त्यजेच्च तरुणीं भार्यां तं विद्याद्ब्रह्मघातकम्।।
भाद्रकृष्णत्रयोदश्यां मघासेन्दुकरो रविः।
यदा तदा गजच्छाया श्राद्धे पुण्यैरवाप्यते।।

किञ्च--

विद्याचौरो गुरुद्रोही वेदेश्वरविदूषकः।
त एते बहुपाप्मानः सद्यो दंड्या इति श्रुतिः।।
परद्रोहेष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं मानसं स्मृतम्।।
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चैव सर्वशः।
अनिबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्।।
अदन्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्।।

इत्यादीन्यन्यान्यप्यूहनीयानि। तानि च प्रपत्तिचिन्तामणौ स्मृतानि आसुरीसम्पच्च, तथा च गीयते।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।। इत्यादिना।।
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।।

इत्यन्तेन ग्रन्थेन।

अथ विरागो निरूप्यते। स च द्विविधः सहेतुको निर्हेतुकश्चेति। तत्र स्वस्यातिशयप्रेष्ठत्वेनाभिमतपुत्रकलत्रघनादिवियोगेन तद्विपरीताभिमतदारिद्र्यादिलाभेन हेतुना जातः सहेतुकः। स चाविवेकत्वाद्व्यभिचारयुक्तो भवति। यदि करुणासागरस्य श्रीभगवतः श्रीकृष्णस्य कृपाकटाक्षः सहकृतः स्यात्तर्हि ज्ञानवैराग्यविभूषितानां भगवत्कृपापात्राणां भागवतानां जातसङ्गः सन् तत्कृपाविषयो भूत्वा शास्त्रीयमार्गे प्रवृत्तस्तेन मार्गेण भगवन्तं भजंस्तद्दाढर्यार्थं भूयो यतति तदानुकल्येऽनुतिष्ठते वान्यथा नैकान्तिकस्वभावत्वादसत्सङ्गेन मार्गाद्भ्रंश्यते द्वितीयस्तु जन्मान्तरसहस्रार्जितपुण्यपुञ्जस्य--

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यततेसिद्धये।।

इति भगवद्वचनान्मनुष्याणां कोटिष्वपि कस्यचिदेकतमस्य जन्मसमये श्रीपुरुषोत्तमदयाकटाक्षावलोकितस्य ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्राप्य तंस्तमशनापिपासाभ्यामन्ववाजर्य ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्नवै नोऽयमलमिति। ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्नायमलमिति

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं वेत्ति पुरुषो वासुकृतमिति''।

अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम।

कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसंचयात्।।

इत्यादिश्रुतिस्मृतिश्लाघितमानुष्यं प्राप्तस्य पुंसो विक्षेपासहिष्णुतया शैशवादेव प्रवृत्तौ ग्लानिबुद्धेः सत्प्रसङ्गलब्धकथाश्रवणतः कर्मफलानां दुःखात्मतां श्रुत्वा वर्त्तमानशरीरेऽपि स्वस्य परेषां च क्षेत्रज्ञानां जन्ममरणादिरूपचक्रभ्रमणात्मकं दुःखमनुभूय जातवेपथुशरीरमनस्कस्य मुमुक्षोर्जायमानो विरागो निर्हेतुकः। स च विवेकजन्यत्वान्मोक्षोपायिकोऽव्यभिचरितस्वभावः। तत्र दुःखं तावद्द्विविधं अवस्थारूपं तापात्मकं चेति। आद्यं च प्रथमं हि पितृमूत्रद्वारा निःसृत्य मातृयोनिप्रवेशस्ततो गर्भेऽनुदिनं कललबुद्बुदपिण्डकाठिन्यादिव्यवस्थापत्तिस्ततः क्रमेणावयवेन्द्रियादियोगस्ततश्चेतनीभावस्ततः स्वकर्मवैषम्येन मातृपितृरजोरेतोवैषम्यनिरूपितस्त्रीपुरुषषण्डभावापत्तिरर्वाक् शिराऊर्द्धपाञ्जरायुवेष्टितो भूत्वा मलमूत्रागारे विष्ठाकृमिभिः सह वासः प्रसवसमये योनिद्वारं प्राप्य यन्त्रेण पीड्यमान इव मूर्छितः पूतिव्रणात्कृमिवन्महता दुःखेन महीपतनं ततश्च कौमाराद्यवस्थानुभवपूर्वकं मरणम्। यदि धार्मिकश्चेत्तर्हि स्वर्गं गत्वा स्वपुण्यार्जितं विषयसुखं मात्सर्यासूयादिदुःखं चानुभूय धूममार्गेण पुनरावृत्यव्रीह्यादिभावापत्तिस्ततः पेषणपाकभक्षणाद्यवस्थोद्भवक्लेशानुभवपूर्वककम्पुनः पितृरेतोभावापत्तिः भूयोभूय उक्तप्रकारेण मातृगर्भप्रवेशादि तदेव संसारचक्रभ्रमणं शास्त्रमुखेनोच्यते दुष्कर्मा च्चन्नरकादिप्राप्तिः श्वशूकरसरीसृपस्थावरादियोनिप्राप्तिस्ततो दुःखानुभूतिरिति गर्भोपनिषदि निपुणं प्रोक्तं। अथ द्वितीयं त्रिधा, आध्यात्मिकमाधिदैविकमाधिभौतिकं चेति। तत्राद्यं द्विविधं, शारीरकमानसभेदात्। तत्र शिरोऽक्षिरोगज्वरादिकं शारीरं कामक्रोधभयद्वेषलोभमोहविषादशोकासूयावमानेर्ष्यादिजन्यं मानसम्। शीतोष्णवातवर्षाजलविद्युदादिसमुद्भवमाधिदैविकं। मृगपक्षिमनुष्यराक्षससर्पादिजन्यमाधिभौतिकमिति विवेकः। पुनश्च प्रकारान्तरेण विरागो द्विविधो जिहासोद्भवः सद्योजातश्च। आद्यः सौभरिणा प्रोक्तः-पद्भ्यां गता यौवनिनश्च जाता दारैश्च संयोगगताःप्रसूताः दृष्टाः सुतास्तत्तनयप्रसूतिं द्रष्टुं पुनर्वाञ्छति मेऽन्तरात्मा।। द्रक्ष्यामि तेषामपि चेत्प्रसूतिं मनोरथो मे

विद्याचौरो गुरुद्रोही वेदेश्वरविदूषकः।
त एते बहुपाप्मानः सद्यो दंड्या इति श्रुतिः।।
परद्रोहेष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं मानसं स्मृतम्।।
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चैव सर्वशः।
अनिबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्।।
अदन्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्।।

इत्यादीन्यन्यान्यप्यूहनीयानि। तानि च प्रपत्तिचिन्तामणौ स्मृतानि आसुरीसम्पच्च, तथा च गीयते।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।। इत्यादिना।।
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।।

इत्यन्तेन ग्रन्थेन।

अथ विरागो निरूप्यते। स च द्विविधः सहेतुको निर्हेतुकश्चेति। तत्र स्वस्यातिशयप्रेष्ठत्वेनाभिमतपुत्रकलत्रघनादिवियोगेन तद्विपरीताभिमतदारिद्र्यादिलाभेन हेतुना जातः सहेतुकः। स चाविवेकत्वाद्व्यभिचारयुक्तो भवति। यदि करुणासागरस्य श्रीभगवतः श्रीकृष्णस्य कृपाकटाक्षः सहकृतः स्यात्तर्हि ज्ञानवैराग्यविभूषितानां भगवत्कृपापात्राणां भागवतानां जातसङ्गः सन् तत्कृपाविषयो भूत्वा शास्त्रीयमार्गे प्रवृत्तस्तेन मार्गेण भगवन्तं भजंस्तद्दाढर्यार्थं भूयो यतति तदानुकल्येऽनुतिष्ठते वान्यथा नैकान्तिकस्वभावत्वादसत्सङ्गेन मार्गाद्भ्रंश्यते द्वितीयस्तु जन्मान्तरसहस्रार्जितपुण्यपुञ्जस्य--

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यततेसिद्धये।।

इति भगवद्वचनान्मनुष्याणां कोटिष्वपि कस्यचिदेकतमस्य जन्मसमये श्रीपुरुषोत्तमदयाकटाक्षावलोकितस्य ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्राप्य तंस्तमशनापिपासाभ्यामन्ववाजर्य ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्नवै नोऽयमलमिति। ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्नायमलमिति

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं वेत्ति पुरुषो वासुकृतमिति''।

अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम।

कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसंचयात्।।

इत्यादिश्रुतिस्मृतिश्लाघितमानुष्यं प्राप्तस्य पुंसो विक्षेपासहिष्णुतया शैशवादेव प्रवृत्तौ ग्लानिबुद्धेः सत्प्रसङ्गलब्धकथाश्रवणतः कर्मफलानां दुःखात्मतां श्रुत्वा वर्त्तमानशरीरेऽपि स्वस्य परेषां च क्षेत्रज्ञानां जन्ममरणादिरूपचक्रभ्रमणात्मकं दुःखमनुभूय जातवेपथुशरीरमनस्कस्य मुमुक्षोर्जायमानो विरागो निर्हेतुकः। स च विवेकजन्यत्वान्मोक्षोपायिकोऽव्यभिचरितस्वभावः। तत्र दुःखं तावद्द्विविधं अवस्थारूपं तापात्मकं चेति। आद्यं च प्रथमं हि पितृमूत्रद्वारा निःसृत्य मातृयोनिप्रवेशस्ततो गर्भेऽनुदिनं कललबुद्बुदपिण्डकाठिन्यादिव्यवस्थापत्तिस्ततः क्रमेणावयवेन्द्रियादियोगस्ततश्चेतनीभावस्ततः स्वकर्मवैषम्येन मातृपितृरजोरेतोवैषम्यनिरूपितस्त्रीपुरुषषण्डभावापत्तिरर्वाक् शिराऊर्द्ध्वपाज्जरायुवेष्टितो भूत्वा मलमूत्रागारे विष्ठाकृमिभिः सह वासः प्रसवसमये योनिद्वारं प्राप्य यन्त्रेण पीड्यमान इव मूर्छितः पूतिव्रणात्कृमिवन्महता दुःखेन महीपतनं ततश्च कौमाराद्यवस्थानुभवपूर्वकं मरणम्। यदि धार्मिकश्चेत्तर्हि स्वर्गं गत्वा स्वपुण्यार्जितं विषयसुखं मात्सर्यासूयादिदुःखं चानुभूय धूममार्गेण पुनरावृत्यव्रीह्यादिभावापत्तिस्ततः पेषणपाकभक्षणाद्यवस्थोद्भवक्लेशानुभवपूर्वककम्पुनः पितृरेतोभावापत्तिः भूयोभूय उक्तप्रकारेण मातृगर्भप्रवेशादि तदेव संसारचक्रभ्रमणं शास्त्रमुखेनोच्यते दुष्कर्मा च्चन्नरकादिप्राप्तिः श्वशूकरसरीसृपस्थावरादियोनिप्राप्तिस्ततो दुःखानुभूतिरिरिति गर्भोपनिषदि निपुणं प्रोक्तं। अथ द्वितीयं त्रिधा, आध्यात्मिकमाधिदैविकमाधिभौतिकं चेति। तत्राद्यं द्विविधं, शारीरकमानसभेदात्। तत्र शिरोऽक्षिरोगज्वरादिकं शारीरं कामक्रोधभयद्वेषलोभमोहविषादशोकासूयावमानेर्ष्यादिजन्यं मानसम्। शीतोष्णवातवर्षाजलविद्युदादिसमुद्भवमाधिदैविकं। मृगपक्षिमनुष्यराक्षससर्पादिजन्यमाधिभौतिकमिति विवेकः। पुनश्च प्रकारान्तरेण विरागो द्विविधो जिहासोद्भवः सद्योजातश्च। आद्यः सौभरिणा प्रोक्तः-पद्भ्यां गता यौवनिनश्च जाता दारैश्च संयोगगताःप्रसूताः दृष्टाः सुतास्तत्तनयप्रसूतिं द्रष्टुं पुनर्वाञ्छति मेऽन्तरात्मा।। द्रक्ष्यामि तेषामपि चेत्प्रसूतिं मनोरथो मे

भविता ततोऽन्यः पूर्णोऽपि तस्याप्यपरस्य जन्म निवार्यते केन मनोरथस्य।।

इत्यारभ्य--

यथानुभूयः परिहीनदोषो जनस्य दुःखैर्भवितास्मि दुःखी सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमणोरणीयांसमतिप्रमाणम्।

सितासितं चेश्वरमीश्वराणामाराधयिष्ये तपसैव विष्णुम्।।

इत्यन्तेन। द्वितीयो ययातिवत्सद्योजायमानस्तथाच तेनैव गीतः--

न जातुकामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते।।
या दुस्त्याजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
तां तृष्णां सन्त्यजेत्प्राज्ञः सुखेनैवाभिपूर्यते।।
जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
धनाशा जीविताशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यति।।
पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः।
तथाप्यनुदिनं तृष्णा ममैतेष्वेव जायते।।
तस्मादेतामहं त्यक्त्वा ब्रह्मण्याधाय मानसम्।
निर्द्वन्दो निर्ममो भूत्वा चरिष्यामि मृगैः सह।।
इत्यादिनेत्येवमन्यदपि बृहन्मञ्जूषायां द्रष्टव्यमिति संक्षेपः।
केशशेषादिभिर्देवैर्वन्द्यं च वेदशास्त्रकैः।
शास्त्रयोनिं जगद्योनिं वन्दे कृष्णं सुरेश्वरम्।।

इति श्रीगिरिधरप्रपन्नविरचितायां लघुमञ्जूषायां
चतुर्थकोष्ठिका समाप्ता।

शुभं भूयात्

उपास्यरूपति। इमेपश्चाप्यर्थाः साधुभिः ज्ञेया इत्यन्वयः। यह पांचों अर्थ साधुओं के द्वारा ज्ञातव्य है। तत्र=उनमें उपास्य भगवान् पुरुषोत्तम का रूप (इसका सम्बन्ध कल्याण गुणाश्रयत्वम् इससे है) कल्याणगुणों का आश्रय है। उन कल्याण गुणों का निरूपण करते है-स्वाभाविक अचिन्त्य अनन्त-संख्या रहित-यावदात्मवृत्ति=यावत् आत्मा में रहने वाले (अर्थात् भगवान् के समान व्यापक) सर्वज्ञतादि-वात्सल्य कारुण्यादि ऐसे गुणों के अधिकरण है। एवं अनन्त अनवद्य (अनिन्द्य) प्रकाशात्मक, निरतिशय

मार्दव (कोमल) यौवन सौन्दर्यादि दिव्य गुण निलय, योगियों के द्वारा ध्येय-(ध्यान के योग्य) दिव्यविग्रह वाला इत्यादि का प्रतिपादन ''स्वभाव-तोऽपास्तसमस्तदोषम्'' श्लोक ४ में किया है।।१।।

तदुपासकस्येति-तस्य=उस भगवान् उपासक जीव समुदाय, उसके स्वरूप का भी प्रतिपादन हो चुका है) जीव देह इन्द्रियादि के जड समुदाय से विलक्षण है एवं ज्ञानस्वरूप होकर ज्ञानाधिकरण है उसकी स्वरूप स्थिति प्रवृत्ति भगवान् के अधीन है। इसका निरूपण 'ज्ञानस्वरूपम्''१। तथा २ श्लोक में हुआ है।

कृपाफलमिति। श्रीभगवत् कृपा का फल मोक्ष स्वरूप सर्व कर्मध्वंसा भाव पूर्वक समस्त निःशेष विद्या निवृत्ति आत्मक परिपूर्ण यावदात्मभावि ब्रह्मस्वरूपादि विषयक अनुभूति सन्तति रूप मुक्ति है वही भगवद् भावापत्तिः सायुज्य-साम्यादि शब्दों से कही है। इसी बात को श्रुति कहती है-''पररूप को प्राप्त कर (जीव) स्वरूप से सम्पन्न होता है।

विष्णुपुराण में श्रीपराशरजी ने भी ऐसा ही कहा है--

निरस्तातिशयाह्लाद सुखभावैकलक्षणम्।
भेषजं भगवत् प्राप्तिरेकान्तात्यन्तिकी मता।
''इतिपराशरोक्तेः''

जिस आनन्द से बढकर कोई सुख नहीं ऐसे स्वरूप वाली भगवत् प्राप्ति ही संसार दुःख के निवृत्त करने वाली महौषधि है (उसका नाम ही मुक्ति है।।३।।

भक्तिरस इति। भक्तेः रसः प्रेमानन्दफलरूपाभक्ति रिति यावतः। भक्ति का रस प्रेमानन्द फलरूपा भक्ति है। उसमें प्रमाण देते हैं--

मनोमतिरविच्छिन्ना हरिप्रेमपरिप्लुता।
अभिसन्धिविनिर्मुक्ता भक्तिर्विष्णुवशं करोति।
''इति विष्णुवशंकरण पंचरात्रेक्तेः''

भगवद् प्रेम से सनी हुई कामना रहित, निरन्तर रहने वाले मन की गति ही नारायण को वश में करने वाली भक्ति है। इस पंचरात्र के वचन में विष्णु का वश में करना कहा गया है।

भक्तिरसः इसमें तृतीया समास का निरूपण कर दूसरे प्रकार के अर्थ

का कथन करते हैं--

''यद्वा-भक्तिः रसः-भक्त्या रस्येतऽनुभूयते इति भक्तिरसः'' तथा च भगवत् साक्षात्कारानुभवः। भक्ति के द्वारा जिस काम का अनुभव हो उस भगवत् साक्षात्कार को भक्तिरस कहते हैं, इसमें श्रुति प्रमाण है-भक्ति ही भगवान् के दर्शन कराती है परमात्मा भक्ति के वश में है भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। गीता में कहा है हे अर्जुन-पूर्वोक्त सभी साधन भगवद् कृपा के साधन है अर्थात् इन साधनों से भगवद् कृपा की अभिव्यक्ति होती है भगवद् कृपा से जीव मुक्त होता है। तथाहि'' इससे उस अगम का निरूपण किया है। इस प्रकार के हम अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होने के योग्य है। यहां पर ''भक्तिरसः'' यह शब्द कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रपत्ति आदि का सर्व साधनों का उपलक्षण है स्वबोधकत्वे सतिस्वेतर बोधकत्वम्-उपलक्षणत्वम्। भक्तिरस स्वका बोधक होकर कर्मादि का बोधक है-अनेन=कृपा फल के प्रदर्शन से, भगवद् भावापत्ति रूप मोक्ष प्राप्ति के क्रम को भी प्रदर्शित किया है उसका ही विशद निरूपण करते हैं-तथाहि। उत्पत्तिशील पुरुष पर सर्व प्रथम भगवद् कृपा कटाक्ष होता है उससे जन्म से ही सात्त्विक होकर मुमुक्षु बनता है-इस बात का स्पष्टीकरण नारायणीयउपनिषद् में किया-

उत्पन्न होने वाले जिस पुरुष का अवलोकन-मधुसूदन भगवान् करते हैं उस को सात्त्विक समझना चाहिये, वह मुक्ति पदार्थ का चिन्तन करता है, जिसको उत्पन्न होते ही ब्रह्मा अथवा शंकरजी अवलोकन करते है-उसका मन रजोगुण अथवा तमोगुण से व्याप्त रहता है।

भगवदवलोकित पुरुष में (मुमुक्षा) मोक्ष की इच्छा उत्पन्न होती है तब वह मुक्ति के साधनों में लगता है उससे अनन्तर-कर्म ज्ञानादि साधनों से आराधित पुरुषोत्तम प्रसन्न होते हैं-पराभक्ति अथवा पर ज्ञान का बहाना बनाकर-उस मुमुक्षु को अपने स्वरूप का दर्शन कराते हैं-उससे पश्चात् वह भगवद् साक्षात्कार से तद्भावापन्न होता है (अर्थात् भगवद् सायुज्य को प्राप्त करता है) ज्ञान तथा भक्ति वाले ही भगवद् प्रिय होने से भगवद् कृपाजन्य भगवद् दर्शन से मोक्ष के भागी बनते हैं-इस बात को प्रमाण से सिद्ध करते हैं--

उन चार प्रकार के भक्तों में अनन्य भक्ति वाला ज्ञानी-नित्य-सदा

समाहित रहता है मैं ज्ञानी का अत्यन्त प्रिय हूँ–वह मेरे से प्रेम करता है। ज्ञानी तो मेरी आत्मा है। जो सर्वारम्भ का परित्यागी है–वह भक्त मेरे को प्रिय है। जो शुभाशुभ का परित्यागी है (इन गीता वाक्यों से भक्ति तथा ज्ञान की महिमा का ज्ञान होता है)

श्रुति भी कहती है–यस्यदेवेपराभक्ति'' जिसकी परमात्मा में पराभक्ति है वैसी ही भक्ति गुरुदेव में है। वह भक्तियुक्त पुरुष ही भगवद् कृपा का पात्र है। स्मृति में भगवद्वाक्य है–अनन्य भक्ति करने वाले तुम्हारे पर मैं प्रसन्न हूँ। (तमेवशरणंगच्छ सर्वभावेन भारत!) हे भारत सर्वभाव से उस अन्तर्यामी की शरण में जाओ। उनकी कृपा से शाश्वताव्यय पद को प्राप्त करोगे। मेरे आश्रित होकर सर्व कर्मों को करते हुये मेरी कृपा से पराशान्ति एवं शाश्वत स्थान का प्राप्त करोगे। वह परमात्मा जिसका वरण करते हैं उसको प्राप्त होते हैं वह परमात्मा अपने स्वरूप को प्रकाशित कर देते हैं। तम्=उस परमात्मा को अक्रतुः–काम्य कर्मादि रहित पुरुष देखता है वह शोक रहित हो जाता है। विधाता की कृपा से परमात्मा की महिमा का ज्ञान होता है। भगवद् साक्षात्कार से हृदय ग्रन्थियां खुल जाती है। यदा=जिस काल में पश्यः जीव–सुवर्ण–स्वरूप ब्रह्मयोनि कर्त्ता पुरुष ईश्वर का साक्षात्कार करता है, वह पुण्य पापरूप सर्व बन्धनों से रहित होकर परमत्मा की समता (सायुज्य) भेद सहिताभेद को प्राप्त करता है। इत्यादि श्रुति स्मृति से यह बात सिद्ध होती है।।४।।

अथैवतदाप्तेः विरोधिनो रूपमिति। एतस्य–श्रीरमा–राधाकान्तस्य–श्रीरमाकान्त तथा राधाकान्त श्रीकृष्ण की प्राप्ति के विरोधियों का स्वरूप साधुओं को समझ लेना चाहिये। वह विरोधी सामान्य तथा विशेष के भेद से दो प्रकार का है। आत्म स्वरूप के अन्यथाभाव की दृढता के हेतु होने से–तत्र=उन दोनों में से प्रथम विशेषों का निरूपण करते हैं। वहां पर स्व–स्वरूपज्ञान को विरोधी आत्मा के अज्ञान द्वारा–देह इन्द्रिय मन तथा बुद्धिआदि अनात्म में आत्मत्व निश्चय है श्रीभगवान् तथा गुरु के बिना अपने को अन्य के आधीनत्व का अभिमान (मिथ्या प्रतीति) मैं भगवान् का हूँ इसमें असम्भावना (संशय) श्रुति–स्मृति रूप भगवान् की आज्ञा की उपेक्षा करना। अन्य देवों का अर्चन नमस्कारादि।

असत् शास्त्र की इच्छा आत्मा की स्वतन्त्र भावना से अहंकार तथा ममकार भाव की दृढता इत्यादि।

ये भावनायें अपने स्वरूप ज्ञान की विरोधिनी हैं एवं अपने ज्ञान के द्वारा भगवत्प्राप्ति में प्रतिबन्धिका हैं। ईशावास्योपनिषत् में कहा है कि- अज्ञान अर्थात् अनित्य में नित्यत्व और नित्य में अनित्यत्व भाव रखने वाले आत्मघाती मनुष्य इन लोकों को छोड़कर उन्हीं अन्धकारमय नरकादि लोकों में जाते हैं। केनोपनिषत् में भी कहा गया है कि यदि मनुष्य योनिप्राप्त होने पर भी आत्मज्ञान नहीं हो तो वह महान् हानि जाननी चाहिये।

इसी प्रकार स्मृतियाँ कहती हैं कि-उस आत्मघाती चौर ने कौनसा पाप नहीं किसा, जो कि नित्य वस्तु में अनित्यता की दृढ भावना रखता है। जैसे उपरोक्त विरोधी भाव स्वस्वरूप ज्ञान के विरोधी हैं, वैसे-निम्नलिखित भाव भगवत्स्वरूप को तिरोधान करने के कारण भगवत्प्राप्ति के प्रतिबनधक हैं।

जैसे कि भगवान् को भी दूसरे देवताओं के समान समझना। ब्रह्मादिक देवां में ही परमात्मबुद्धि रखना। भगवान् के अवतरित विग्रहों में मनुष्य, पशु आदि भावना रखना। शालिग्रामादि अर्चाविग्रहों में पत्थर एवं लोह आदि धातु भाव तथा असमर्थता और अचेतना की भावना रखना, भगवन्मन्त्रों को साधारण शब्द मानना, भगवत्कथा को लौकिक कहानियाँ समझना। स्वाभाविक अचिन्त्यस्थायी प्रशंसनीय अनन्त सद्‌गुणों के समुद्र परब्रह्म श्रीनन्दननन्दन में निर्गुणत्व एवं मायिकगुणवत्ता की कल्पना करना।

श्रुति कहती हैं कि जो प्राणी अपने उपास्य परब्रह्म को छोड़कर दूसरे-दूसरे देवों का यजन करता है, वह च्युत एवं पापिष्ठ होजाता है, अतः परम गति को प्राप्ति नहीं कर सकता इसलिए एक ही परमात्मदेव की आराधना करनी चाहिए, अन्य सभी वाग्जालों का परित्याग कर देना चाहिये।

प्रजापति स्मृति में भी कहा गया है कि-हृदय में ही रहने वाले सर्वेश्वर प्रभु श्रीनारायण को छोड़कर जो मनुष्य परयात्मबुद्धि से दूसरे देव की अर्चा करता है वह पाप का भागी है। महाभारत के सप्तर्षि सम्वाद में भी यही कहा है कि-तीनों लोकों वत्पत्ति स्थितिलय करने वाले एवं समस्त

जगत् को सर्व भाँति विशेषतया अच्छी प्रकार धारण करने वाले निरञ्जन, जगद्गुरु, ब्रह्मण्यदेवेश देव देव जनार्दन श्रीविष्णु भगवान् को छोड़कर जो मनुष्य अन्य ही किसी को भजता है वह अपने हित की दृष्टि से विष चोरी करता है।

गीता में भी भगवान् को न भजने वालों की निन्दा की गई है, कि मेरे अव्यय और अनुत्तम परमभाव को न जानने वाले मूर्ख ही मेरे मावनीय विग्रह की अवज्ञा करते हैं।

निष्फल आशा और कर्मो वाले अतिअल्पज्ञ मूर्ख, मोहन वाली राक्षसी एवं आसुरी प्रकृति का आश्रय लेते हैं।

स्मृतियों में कहा है कि जो मनुष्य भगवान् की मूर्ति लोहबुद्धि और जो गुरुदेव में मनुष्यभाव रखता है, वे दोनों घोर नरक में गिरते हैं। श्रीसर्वेश्वर प्रभु ही परात्पर परब्रह्म हैं, इस विषय में क्रमशः निम्नलिखित प्रमाण जानना। परमात्मा से अधिक अथवा उसके समान संसार में दूसरा कोई नहीं। भगवान् की ज्ञान, बल, क्रिया, रूप अनन्त स्वाभाविक पराशक्ति सुनी जाती हैं। जो सामान्य एवं विशेष रूप से सब कुछ जानता है। वह परमात्मा अनन्त कल्याणकारी गुणों वाला है। (गीता तथा श्वेताश्वतर आदि उपनिषत्) उपरोक्त दोनों प्रकार के विरोधी भावों से रहित भगवान् के भक्त को भी चाहिये कि वह-अपने अपराधों की अधिकता की चिन्ता से भगवान् पर विशेष भार पड़ने की आशंका कर भगवत्प्रपत्ति, आदि उपायों की लधुता की शंका उत्पन्न न करें एवं भगवान् में अविश्वास दूसरे साधनों में निष्ठा वैष्णवमन्त्र ग्रहण कर दूसरे मन्त्र का परिग्रह, भगवान् के मन्त्र जप तथा पूजा आदि सेवा के द्वारा क्षुद्र फलों की कामना करना, भगवान् की आज्ञा के पालनरूप अपने-अपने धर्मों के आचरणों में अपना-अपना पौरुष मानना, भगवद्रूप वहिर्यामी श्रीगुरुदेव में मनुष्य बुद्धि, आदि भावनायें कदापि न करे। क्योंकि इनमें से जो अपने पापों की अधिकता एवं भगवत्सेवा को विनश्वर समझना आदि भावनायें हैं, वे साधना को नष्ट करने वाली हैं। अतः साधना को निष्फल बनाकर वे भगवत्प्राप्ति में बाधा डाल देती हैं। एवं श्रीगुरुदेव में गौरव (सर्वोच्चपूज्यत्वदृष्टि और विश्वास रखनाचाहिये, यदि किसी शिष्य के चित्त में गुरुदेव का गौरव और विश्वास न हो तो उसको

कृतघ्न कहते हैं, अतएव उपरोक्त गुरुदेव में मानवबुद्धि आदिक प्रतिबन्धकों से गुरु भक्ति का नाश होता है और उससे साधक का नाश-अर्थात् अधोगति होती है, कारण गुरुदेव के उपदेश से ही हरिभक्ति का अंकुर जमता है उसके बिना नहीं जमता। क्योंकि गुरु भक्ति और भगवत्प्राप्ति के उपायों का सहचरी भाव है, अतएव शास्त्र कहता है कि जिसकी जैसी परमात्मा में भक्ति हो वैसी ही गुरुदेव में हो। उसी साधक को महत्पुरुष भगवत्प्राप्ति के उपाय बतलाते हैं, अतः साधक को उचित है-गुरु को ही परागति और परब्रह्म समझे, क्योंकि गुरु ही ज्ञान का उत्पादन कराते हैं और साधक के जन्म को सार्थक बनाते हैं, इसलिये गुरु से कभी भी द्रोह न करे, और गुरु के विषय में कभी किसी प्रकार की विपरीत भावना भी न करे।

एक अक्षर का भी बोध कराने वाले आचार्य का यदि शिष्य अपमान करे तो वह सो जन्मों तक कुत्ते की योनि में रह कर चाण्डाल योनि में जन्म धारण करता है। विष्णु भगवान् की प्रतिमा में लोहबुद्धि और गुरु में मनुष्य बुद्धि इन दोनों भावनाओं को जो रखते हैं वे घोर नरक में गिरते हैं।

इसी प्रकार संक्षिप्त रूपेण-धर्मादि वर्ग में पुरुषार्थ बुद्धि रख कर उनके प्राप्त करने की अभिलाषा, भगवत्प्राप्ति के साधन आदि क्रियाओं के अनुष्ठान में अपनी स्वतन्त्रता की भावना, शास्त्र से विपरीत मन मानी चेष्टा, ये तीनों फल (मुक्ति) के विरोधी, एवं भगवत्प्राप्ति के प्रतिबन्धक हैं। इसलिये ग्वान, पान, धन, वस्त्र, आयु, ऐश्वर्य आदि की याचना भगवान् से आपत्ति काल में भी भक्त न करे। भगवान् कहते है-यदि मेरी प्रसन्नता न हो तो प्रतिदिन याचना करने पर भी में कुछ नहीं देता, किन्तु मैं प्रसन्न हो जाऊँ तो बिना ही याचना के सब कुछ दे देता हूँ।

वस्तुतः ठीक है-माता अग्नि में गिरते हुए बच्चे को क्या नहीं बचाती है? वैसे ही भगवान् भी क्या अपने भक्तों को दुःख से मुक्त नहीं बनाते? अवश्य सम्हालते हैं। परन्तु सर्वदा भक्तों की (अनुचित) याचना पर भी वे भक्त का अहित नहीं करते। अतः भक्तों का कर्तव्य है-वे भक्ति और ज्ञान के बदले भगवान् से कुछ भी न माँगे, क्योंकि याचना करने से साधना अवश्य निष्फल होजाती है। यम भी, भगवान् भक्तों का शासन नहीं कर

सकता, वह स्वयं कहता है–देवगण प्रपूजित विधाता के लोगों के हिताहित मुझको यम पद पर नियुक्त किया है, परन्तु मैं भी स्वतन्त्र नहीं हूँ। सदा भगवान् और गुरुदेव के वशीभूत रहा हूँ क्योंकि मेरे भी विष्णु भगवान् नियन्ता हैं।

हे दैत्येन्द्र? जो वेदोक्त धर्म छोड़कर विपरीत कार्य करता है वह सभी प्राणी समूह मेरी कृपा से तेरा अनुयायी होगा। जो शास्त्र विधि छोड़कर कामादि कृत्यों में रत रहता है वह किसी भी सिद्धि सुख तथा परागत को प्राप्त नहीं हो सकता। और शास्त्र के कहे हुए विधानों को जान कर ही कर्म करना चाहिये।

इसी प्रकार–देहादिकों में बहुत समय तक स्थित रहने की इच्छा और भगवान् और भगवद्भक्तों में जाति के उच्चत्व ना चत्व के अभिमान से जान बूझ कर अवज्ञा आदिक अपराध, असाधुओं की संगति, ये दोनों विरोधी भावनायें भगवत्प्राप्ति में साक्षात् एवं तत्काल ही बाधा डालती हैं, अतः इनसे बड़े प्रयत्न पूर्वक बचे रहना चाहिये।

भक्त को चाहिये–सुखमय दीर्घ जीवन का और दुःखावस्था में मरण की प्राप्ति का अभिनन्दन न करे, अपितु जैसे सेवक केवल निर्वेश (अपनी मजदूरी वेतन) की ही प्रतीक्षा रखता है वैसे भक्त केवल काल (भगवत्सेवा के समय) की ही प्रतीक्षा करता रहे क्योंकि प्रायः पापी पुरुष ही मृत्यु को आया हुआ जान कर उद्विग्न होता है। कृतकृत्य सज्जन तो प्रिय अतिथि के सदृश मृत्यु का भी स्वागत ही करते हैं। यह व्यासजी का कथन है। गीता में भी भगवान् ने कहा है–हे अर्जुन ! जो मैंने तुझको ज्ञान दिया है यह मेरी निन्दा करने वाले को कभी नहीं सुनाना।

हरिवंश पुराण में भी वामन भगवान् ने बलि राजा के प्रति कहा है–

हे दैत्येन्द्र? जहाँ पर मेरी कथा हो रही हो वहाँ से यदि उस कथा का श्रवण न कर मेरे या मेरे भक्तों के विद्वेषी चले जाँय और किसी पुण्य कार्य का बड़े यत्न से करना आरम्भ करें और उससे उनका एक वर्ष तक जो पुण्य संचित हो वह पुण्य तुम्हें प्राप्त हो अर्थात् भगवान् के भक्त भागवत कथा के विद्वेषियों के किये हुए पुण्य कर्मों से भी आसुरी गति प्राप्त होती है।

भारत के वनपर्व में दुर्वासा ऋषि ने भी अपने शिष्यों के प्रति कहा

है-

हे विप्रो! मैंने राजर्षि युधिष्ठर का वृथा ही बड़ी भारी अपराध किया है कहीं पाण्डव अपनी क्रूर दृष्टि से हम सबों को भस्म न कर डाले। बुद्धिमान् राजर्षि अम्बरीष के प्रभाव को स्मरण कर हे विप्रों मैं निरन्तर भगवद्भक्तों से डरता रहता हूँ। सदाचार रत धर्म परायण-स्वाभाविक भगवद्भक्त सभी पाण्डव कदाचित क्रुद हो जावें और अग्नि जैसे रुई के ढेर को जला देता है वैसे हम सबों को कहीं भस्म न कर देवें। इसलिये पाण्डवों से विना ही मिले चुपचाप सब के सब दौड़ चलिये।

विष्णु पुराण में प्रह्लाद ने कहा है-हे देव! आपकी स्तुति करने के लिये उद्यत होने पर मेरे में जो मेरे पिता की दोष बुद्धि हुई, उससे जो कुछ उसका पाप बना, वह सब पाप नष्ट हो जावे। एवं आप में प्रीति रखने वाले भक्तों के द्वेष से जो उसका पाप हुआ है अथवा उस पाप के द्वारा जो कुछ पाप हुआ हो उन सभी पापों से मेरा पिता मुक्त हो जावे।

ऋग्वेदीय कात्यायन संहिता में कहा है--ज्ञानी पुरुष को चाहिये कि वह भगवान् और भगद्भक्तों के महत्त्व को न जानने वालों अथवा उनमें श्रद्धा न रखने वालों कोआत्मज्ञान की शिक्षा न देवे, एवं उनके साथ खान-पान तथा एक स्थान में निवास न करे। धधकती हुई ज्वाला के पींजरे में रहना अच्छा है, किन्तु श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र की भक्ति से विमुख दुर्जनों के साथ निवास करना अच्छा नहीं।

विष्णु रहस्य में लिखा है-'सर्प-सिंह-मगर, आदि हिंसक जन्तुओं का आलिंगन भी उतना बुरा नहीं जितना कि श्रीसर्वेश्वर की सेवा से वञ्चित रहने वाले, अनेक राजस तामस, देवों की सेवा करने वाले शल्य युक्त पुरुषों का संग बुरा है।

ओर भी कहा है कि-शैव-पाशुपत एवं नास्तिक लौकायतिक, अकर्मी द्विज और शूद्रों का स्पर्श न करे, कदाचित् स्पर्श हो जाय तो उसे सवस्त्र स्नान करना चाहिये। शाण्डिल्य स्मृति में कहा है-पापकर्म रतमूर्ख एवं क्रूर तथा सदा शास्त्र से विमुख रहने वाले पुरुषों से भक्त कोई सम्बन्ध न जोड़े, क्योंकि उनके साथ सम्बन्ध जोड़ते ही भक्ति भगवती विदा हो जाती है।

पितृ गीता में कहा गया है–जिसकी जन्म से लगा कर मृत्यु तक भी भगवान् में भक्ति न हो ऐसा पुत्र वंश में पैदा न होवे, यदि उत्पन्न भी होजाय तो शीघ्र मर जावे तो अच्छा है।

विष्णुपुराण में कहा है–वृथा ही अन्न को नष्ट करने वाले, जरा मरण आदि दुःखों से दुःखित होने पर भी अपनी मूढता को न छोड़ने वाले, पितरों को पिण्डोदक न देने वाले और जिनका कोई एक कार्य भी पवित्रता युक्त न हो उन मनुष्यों से सम्भाषण करने से भी नरक की प्राप्ति होती है।

एवञ्च पाषण्डी, विपरीत कार्य करने वाले पराये धन को हड़पने वाले शठ बगुला के सदृश स्वार्थी प्राणियों का वाणी से भी सम्मान नहीं करना चाहिये। सदा धर्म की ओर में ढौंग फैलाने वाले, लोभी छली, ठग, को ''वैडाल व्रतिक'' जानना जो कि सबको ठगने वाला हिंसक हो, और हे द्विज? नीची दृष्टि रखने वाले तथा निष्कर्मी रहते हुए अपने स्वार्थ को सिद्ध करने में तत्पर, झूंठ मूठ ही नम्रता रखने वाले शठ को वकवृत्ति चर कहते हैं।

शाण्डिल्य स्मृति में कहा है कि–जो मूर्ख होते हुए भी अपने को पण्डित समझने वाले एवं अधर्माचरण करते हुये भी अपने को धार्मिक के समान सूचित करने वाले साधुओं की वेशभूषा को धारण करने वाले दुर्जन धार्मिक सज्जनों को बाधा पहुँचाते हैं।

इसी प्रकार भगवत्प्राप्ति के प्रतिबन्धकों का वर्णन करने वाले और भी बहुत से शास्त्रीय वाक्य हैं।

अब भगवत्प्राप्ति के सामान्य प्रति बन्धक कहते हैं, जिनमें से पहिला तो मर्यादा का उल्लंघन करना है। श्रुति और स्मृतियाँ भगवान् की ही आज्ञा है, अतः उनकी आज्ञा का पालन न करना भगवत्प्राप्ति का प्रथम बाधक है। दूसरा अपने धर्म का त्याग और तृतीय, दूसरे–दूसरे वर्णों के धर्मों का आचरणं करना भगवत्प्राप्ति का बाधक है। निम्नलिखित गीता

आदि धर्म ग्रन्थों के वाक्य, इनके समर्थक हैं। यहाँ उद्धृत किये जाते है। जैसे कि अपने-अपने वर्णोचित निर्धारित कर्मो का छोड़ना उचित नहीं यदि कोई मोह से उनका त्यागता है तो वह तामस त्याग कहलाता है।

ऋग्, यजु और साम इन तीनों वेदों में कही हुई वृत्ति ही तीनों वर्णों की वृत्ति है, यदि उस वृत्ति को कोई मूढता के कारण त्याग दे तो वह नग्न एवं पातकी कहाता है। ब्रह्मचारी गृहस्थ, वानप्रस्थ संन्याय ये चार ही आश्रम हैं, इनके अतिरिक्त पांचवाँ और कोई आश्रम नहीं। जो सन्ध्या नहीं करता वह अपवित्र एवं किसी भी वैदिक कार्य के करने योग्य नहीं माना जाता, क्योंकि वह जो कुछ कर्म करता है उसको उस कर्म का फल नहीं मिल सकता। धर्म का लोप (व्यतिक्रम) करने वाले मनुष्य मूर्ख और मन्द मति होने पर पण्डितपने का अभिमान रखने वाले ही परम नास्तिक कहावेंगे। वर्ण और आश्रमी मितधर्मा चरण करने वाले पुरुष पर ही परम पुरुष विष्णु भगवान् प्रसन्न हो सकते हैं, क्योंकि इसके अतिरिक्त उनको प्रसन्न करने का दूसरा कोई सुन्दर मार्ग नहीं। वेदोक्त धर्म को छोड़ कर जो अन्य धर्मों का आचरण करते हैं, हे दैत्येन्द्र? मेरी कृपा से वह सम्पूर्ण तुम्हें प्राप्त होगा। उपरोक्त अन्वय रूप ओर व्यतिरेक रूप वाक्यों से मर्यादा उल्लंघन-स्वधर्म त्याग और परधर्माचरण इन तीनों की प्रतिबन्धकता कही गई है।

चौथा प्रतिबन्धक 'कृतघ्नत्व है। मनुस्मृति में कृतघ्नता को बड़ा भारी पाप बतलाया है--कि गौहत्या, मदिरापान, चोरी, व्रतभंगता आदि पापों को विद्वानों ने प्रायश्चित बतलाया है परन्तु कृतघ्नता का प्रायश्चित नहीं बतलाया कारण जिन हितैषी मित्रों ने सत्कार पूर्ण, आवश्यकीय कार्यों में तन मन से सहयोग प्रदान किया, उन मित्रों के प्रति जो कृतघ्न व्यक्ति प्रन्युपकार की चेष्टा नहीं करते एवं आपत्ति आदि किसी सहायोपयोगी समय में सहाय प्रदान नहीं करते, उन कृतघ्न व्यक्तियों का कहीं पर भी आदर नहीं, न जीवित अवस्था में उन्हें कोई अपनाता और न मृत्यु के पश्चात् लोकान्तर में उनका कोई आदर करता-यहाँ तक कि उनके मृत शरीर को मांसाहारी हिंसक जन्तु गिद्ध कौआ आदि भी नहीं अपनाते, अर्थात् उनके मांस को मांसाहारी पशुपक्षी भी त्याज्य समझते हैं। अतएव कृतघ्नता से बचने के लिये सावधान होकर प्रयत्न करते रहना चाहिये।

मनुष्य जन्म मिलने पर जो भगवन्नामों का उच्चारण नहीं करता, वह मूक है एवं जो भगत्कथा को श्रवण नहीं करता, उसको बहिरा समझना। जो मनुष्य संसार से मुक्त होने की चेष्टा नहीं करता वह ब्रह्मघाती कहाता है। वाराह पुराण में कहा है कि लोक में पाँच भूतों वाला मानवीय शरीर प्राप्त हो जाने पर भी जो मेरी शरण में नहीं आता उसके अतिरिक्त और दुःख क्या होगा।

नृसिंहपुराण में लिखा है--सैकड़ों सुकृतों से इस सुन्दर मनुष्य शरीर को प्राप्त करके भी जो मनुष्य इन्द्रियों के उपभोगों के लिये ही प्रयत्न करता है और मुक्ति मार्ग की ओर नहीं झुकता, वह उस मनुष्य के समान है जो भस्म की प्राप्ति के लिये चन्दन को जलाता हो।

पाँचवा प्रतिबन्धक 'स्ववीर्य विक्रयण है-जैसे कुत्ता अपनी अभिवृद्धि के लिये अपनी वान्त को चाटता है। वैसे ही अपने वीर्य का उप सेचन करने वाले को भी अपनी वान्त का चाटने वाला ही समझना चाहिये।

वह 'स्ववीर्यविक्रयण' वाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है, जिनमें परस्त्री गमनादि बाह्य कहाता है, शास्त्र कहता है कि-कृष्ण मृग छाता धारी यदि कोई नैष्ठिक ब्रह्मचारी वीर्य का विक्रय करे और गज छाया रूप स्त्रियों का उपभोग करे, वह फिर मानव शरीर को प्राप्त नहीं हो सकता। 'विद्या आदि गुणों का विक्रय करना' दूसरा स्ववीर्य विक्रयण है-जैसे अपने शरीर को वेश्या शृंगारित बना पर पुरुषों को देती है वैसे दरिद्र पीडित, अपनी वेदादि विद्या को पैसे लेकर दूसरों को विक्रय करते हैं। इत्यादि स्मृतियों में वर्णन किया गया है।

६- छटा प्रतिबन्धक-विद्यालय के द्वारा विजय की इच्छा से ब्राह्मणादि का अपमान करना है। शास्त्र में कहा है कि-जो विजयवाद के द्वारा ब्राह्मणादि का अपमान करना है। शास्त्र कहा है कि-जो विजयवाद के द्वारा ब्राह्मण को जीतकर प्रमुदित होता है। वह गृह आदि मांसाहारी जंतुओं के बैठने के लिये श्मशान भूमि में वृक्ष रूप से उत्पन्न होता है। जो हुं, तुं आदि कुत्सित शब्द कह कर ब्राह्मण गुरु को वाद से जीतता है, वह निर्जल वनस्थान में जाकर ब्रह्मराक्षस बनता है।

७-सातवाँ 'भगवत्सेवा से पहिले ही खान पान कर लेना' भी

भगवत्प्राप्ति का प्रतिबन्धक है। जो मोह से अथवा आलस्य से देव पूजा किये बिना ही भोजन कर लेता है वह नरकों में गिरता है, फिर शूकर योनि को प्राप्त होता है।

८-विराग न होने पर किसी द्वेषादि के कारण से संन्यास विधि के विरुद्ध माता पिता का परित्याग करना। शास्त्र में कहा है-जो माता, पिता, पुत्र तथा तरुण स्त्री को त्यागता है उसको ब्रह्मघाती जानना चाहिये। विद्या की चौरी एवं गुरु से द्रोह करने वाले तथा वेद एवं ईश्वर की निन्दा करने वाले महापापी कहाते हैं, उनको शीघ्र ही दण्ड देनाा चाहिये। इसी प्रकार-दूसरों से द्रोह करने का ध्यान, उनके अनिष्ट होने का मन में विचार करना, तथा झूँट (विना-कारण) क्रोध करना ये तीनों मानसिक और कठोर असत्य तथा असम्बन्धित प्रलाप ये वाचिक तथा मालिक के बिना ही दिये किसी की वस्तु को उठा लेना और वैदिक विधि के विपरीत हिंसा करना एवं पर स्त्री गमन, ये तीनों कायिक कर्म इत्यादि इनके अतिरिक्त और भी जो भगवत्प्राप्ति के विरोधी कर्म हैं वे सब प्रपत्तिचिन्तामणि में कहे गये हैं।

अब विराग का निरूप किया जाता है। विराग दो प्रकार का होता है, जिनमें से पहिला सहेतुक और द्वितीय निर्हेतुक। जिस मनुष्य के-अपने परम प्रेमी स्नेहास्पद पुत्र, स्त्री, धन, ऐश्वर्य आदि पदार्थों का वियोग होने पर एवं उनसे विरुद्ध दरिद्रता आदि की प्राप्ति होने पर 'विराग उद्‌भूत होता है, वह विराग सहैतुक कहाता है। वह वैराग्य अज्ञान पूर्वक होने से व्यभिचार तथा विनष्ट होने की शंकाओं से ग्रसित रहता है। हां कदाचित् निर्हेतुक-अपरिमित करूणा के समुद्र रमानाथ भगवान् की कृपा के कटाक्ष सहित विराग उद्‌भूत हो तो वह भगवत्प्राप्ति का साधक बन सकता है। जो कि भगवान् के पूर्ण कृपा पात्रों के चित्त में होता है। भगवान् कहते हैं कि जो भक्त अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं उनमें भी एकान्ती भक्त श्रेष्ठ हैं। जो कि कभी भी अन्य देव की आशा नहीं रखते उन निष्काम कम करने वालों की गति एक, मैं ही हूँ।'

दूसरा निर्हेतुक विराग वह है जो कि--"हजारों मनुष्यों में से कोई एक सिद्धि के लिये प्रयत्न करता है।" इस गीतोक्त भागवद्वाक्य के अनुसार, करोड़ों मनुष्यों में से किसी एक ही पुरुष जिसके कि हजारों जन्मों के पुण्यों

का सञ्चय है और जन्म समय भगवान् के कृपा कटाक्षों द्वारा अवलोकित है, ऐसा मानव जन्म प्राप्त होना दुर्लभ है, कारण ऐसे पुरुषत्व से व्याप्त होकर प्रकट होने वाला आत्मा ही विज्ञान सम्पन्न हो सकता है। और वही पुरुष विज्ञात वस्तु का कथन तथा दर्शन करता है, उपरोक्त पुरुषत्व रहित प्रार्थी प्रायः पशु कहाते हैं जिनको कि केवल भूख प्यास का ही ज्ञान रहता है। (इस विषय में निम्न लिखित यह एक वैदिक आख्यायिका है) संसार सिन्धु में पशु को प्राप्त होकर देवताओं ने भूख-प्यास निवृत्ति के लिये उसका अर्जन किया और बोले कि तुम हमारे आश्रय को जानो जिसमें स्थित होकर हम अन्नादि का भक्षण करते हैं। तब वह उनके लिये गौ लाया तो देवताओं ने कहा कि इससे हमारी पूर्ति नहीं हो सकती, तब वह घोड़ा लाया फिर भी उनने कहा कि इससे भी हमारी पूर्ति नहीं हो सकती, तब वह एक पुरुष लाया जिसको देख देवता प्रसन्न होकर बोले-''कि हमारा अहोभाग्य है, जो कि पुरुष प्राप्त हुआ, क्योंकि पुरुष ही जगत् में सुकृत (फलरूप) है इस सन्दर्भ का सार यही है--कि देवताओं को भी मनुष्य अत्यन्त प्रिय है। यह तो मनुष्य शरीर की उत्तमता द्योतक, श्रुति प्रमाण, हुआ। स्मृतियों में भी इसी प्रकार मनुष्य शरीर की उत्कृष्टता बतलाई है-हे सत्तम! हजारों जन्म जन्मान्तरों के पुण्य का संचय होने से संसार में कभी एक बार मानव शरीर मिलता है। देवता भी उन प्राणियों के यश का गान करते हैं जो कि स्वर्ग और अपवर्ग स्थान के मार्ग को बताने वाले इस भूलोक में बारम्बार मानव शरीर धारण करते हैं। क्योंकि-इस भूमि में जन्म लेकर मनुष्य स्वकृत कर्म और उनके फलों को परात्पर ब्रह्म अनन्त श्रीविष्णु भगवान् के अर्पण कर निष्कल्मष वन विष्णु लोक को प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे वेदशास्त्र प्रशंसित मनुष्य शरीर धारी पुरुष के-भगवान् की विशेषता (दूरी) न सहन होने के कारण बचपन से ही प्रवृत्ति मार्ग (गृहस्थ आदि धर्मों) में ग्लानि बुद्धि हो जाती है, अतः वह सदा भगवत्कथा का श्रवण तथा सज्जनों का संग करता रहता है जिससे कि उसको कर्म फलों की दुःखरूपता का ज्ञान हो जाता है, अर्थात् भगवद्भक्ति रहित कर्म सुख रूपी नहीं अपितु दुःखरूप ही हैं। और वह पुरुष अपने तथा दूसरे जीवों के विद्यमान शरीर समूह में सम्प्राप्त दुःखों का अनुभव कर एवं कर्म वशीभूत जीवों के दुःख रूप जन्म मरणादि संसृति

चक्र की गति को जानने पर उसका शरीर और मन कम्पित हो जाता है। ऐसे लक्षणों वाले पुरुष के चित्त में जो विराग उद्भव होता है वह विराग निर्हेतुक वैराग्य विवेक जन्य होने के कारण मोक्ष के कारण मोक्ष उपयोगी एवं अव्यभिचरित (आत्मस्थिति पर्यन्त) रहने वाला है।

प्राणियों को कष्ट प्रद 'दुःख' दो प्रकार के होते हैं पहिला अवस्था रूप और दूसरा ताप रूप। जिन में से पहिला दुःख जिस प्रकार अनुभव किया जाता है उसका प्रकार बताते हैं--प्रथम तो पिता के मूत्र मार्ग से निकल कर माता की योनि में प्रविष्ट होना फिर गर्भ में दिनों के क्रम से, कलल, बुद्बुद, पिण्ड, काठिन्य आदि अवस्थाओं में प्राप्त होना। फिर क्रम से अंग उपअंग इन्द्रिय आदि का योग, और पश्चात् चेतनीमुख (चेतनता)। उसके अनन्तर अपने-अपने कर्मों के भेदानुसार एवं माता-पिता के रज वीर्य की विषमता से होने वाले स्त्री पुरुष नपुंसक, इन भावों की प्राप्ति और शिर नीचे, पैर ऊपर को किये हुए तथा जरायु (जेर) में लिपटे हूए मलमूत्र के स्थान में विष्ठा और कृमियों के संग वास करना। फिर जन्म के समय योनि द्वार को प्राप्त हो जैसे किसी यन्त्र विशेष से पीडित फोड़े में से कृमि (क्रीडा) निकल कर गिरता है वैसे ही अत्यन्त दुःखित होने के कारण मूर्च्छित समान हो पृथ्वी पर गिरना। फिर क्रम से बाल कुमार आदि अवस्थाओं को अनुभव करते हुए मरना।

यदि पुण्य कर्म किये हुए हो तो उस पुण्य के फल सुख को भोगकर घूमादि मार्ग से लौटकर अन्न आदि के रूप से प्रकट होता है, और यदि आप पाप कर्म किये हो तो मात्सर्य, असूया आदि दुःखों को भोग कर उसी मार्ग से अन्न में आ मिलता है फिर आटा,-भक्षण, आदि अवस्थाओं में उत्पन्न होने वाले क्लेशों को भोगता हुआ उसी प्रकार माता पिता के रज वीर्य में मिलकर बारम्बार माता के गर्भ में प्रवेश होता है। बस इसी आने-जाने को शास्त्र में संसार चक्र कहा है।

यदि अत्यन्त दुष्कर्मी हो, तो वह नरक भोग कर श्वान, शूकर, सर्प, वृक्ष आदि योनियों को प्राप्त होता है और उन योनियों में आने वाले अपार दुःखों को भोगता रहता है। यह सब गर्भोपनिषत् में स्पष्ट कहा गया है।

दूसरा तापरूप दुःख-अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव, दन भेदों से

तीन प्रकार का है। उनमें आध्यात्मिक दुःख भी दो प्रकार का है। पंहिला शारीरिक और दूसरा मानसिक। शिर नेत्र आदि इन्द्रियों के रोग तथा ज्वर आदि शरीर के रोग, शारीरिक दुःख कहाते हैं। और काम, क्रोध, भय, द्वेष, मोह, विषाद, शोक, असूया, अपमान, ईर्ष्या आदि मनो विकारों को मानसिक दुःख कहते हैं।

शीत, उष्ण, वायु, वर्षा, पानी, बिजली आदि से होने वाला दुःख आधिभौतिक कहाता है और मृग, पक्षी, मनुष्य, राक्षस, सर्पादि से होने वाला दुःख आधिभौतिक कहाता है।

पूर्वोक्त वैराग्य के प्रकारान्तर से दो प्रभेद और भी माने जाते हैं--पहिला जिज्ञासा से होने वाला और दूसरा शीघ्र ही उद्भूत होने वाला इनमें से पहिले (जिज्ञासोद्भवः) का सौभरि ऋषि ने वर्णन किया है कि देखो मैंने विरक्तता छोड़कर पाणिग्रहण किया, पुत्र उत्पन्न हो गये, उनको पैरों से चलते देखा। फिर यौवन अवस्था युक्त देखे और विवाह कर पुत्र-वधूओं से युक्त भी देख लिये, एवं उनकी सन्तति भी देखली, किन्तु इतने होने पर भी उनके पुत्रों के भी पुत्रों को देखने की मेरी अभिलाषा हो रही है। यदि उनके भी सन्तानों को देख लूंगा तो फिर कोई दूसरा मनोरथ उत्पन्न हो बैठेगा। यदि वह भी पूर्ण हो गया तो फिर और किसी तीसरे मनोरथ प्रकट होते कौन रोक सकता है। इत्यादि अपने मानसिक भावों के वर्णन का आरम्भ कर, फिर कहा है कि जैसे काम क्रोधादि दोषों से मुक्त होकर भगवान् को भजने वाला पुरुष फिर मानवीय दुःखों से दुःखित नहीं होता है। वैसे ही मैं भी सर्व जगत् के पिता, अचिंत्य स्वरूप अणु से भी सूक्ष्म अतएव प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अगम्य ईश्वरों के भी ईश्वर, उज्वल श्यामस्वरूप श्रीविष्णु भगवान् को भजूंगा और तपश्चर्या द्वारा उनकी आराधना करूंगा। इत्यादि शब्दों में वर्णन किया हुआ यह वैराग्य जिज्ञासोद्भव कहाता है, कारण पुत्र पौत्रादि समस्त के त्यागने की इच्छा से वह वैराग्य प्रकट हुआ है, अतः "जिज्ञासोद्भव" यह इसकी संज्ञा हुई।

दूसरा--जैसे राजा ययाति के चित्त में शीघ्र वैराग्य उद्भूत हुआ था। वैसे प्रकट होने वाला विराग सद्यो जात कहाता है। जैसे राजा ययाति ने कहा है कि--विषयों के उपभोगों से विषय कामना शान्त नहीं होती,

अपितु जैसे घृत की आहुति देते ही अग्नि प्रज्वलित होता है। वैसे ही यह विषयों की अभिलाषा भी उनके उपभोगों से अधिकतर बढती है। जिस तृष्णा का मूर्खों से त्याग नहीं हो सकता, और शरीरों के जीर्ण होने पर भी जो जीर्ण नहीं होती, उस तृष्णा को त्यागने वाला बुद्धिमान् ही सुखी हो सकता। शरीरों के जीर्ण होने पर भी धन और जीने की आशा जीर्ण नहीं होती। यद्यपि विषयों में आसक्त चित्त को मैंने बराबर एक हजार वर्ष विषयों के उपभोग में ही व्यतीत कर दिये, किन्तु फिर भी इन विषयों में मेरी तृष्णा प्रतिदिन बढती ही जा रही है। इसलिये अब इस तृष्णा को छोड़कर परब्रह्म में चित्त को लगाऊँगा और सुख दुःखादि द्वन्द्वों से रहित बनूं तथा अहंता ममता छोकर बन उपवनों में मृगों के साथ फिरता हुआ भगवान् का स्मरण करूँगा। इत्यादि। अन्य बृहन्मञ्जूषा में देखना चाहिए।

ब्रह्मा, शिव और शेष आदि देवों तथा वेद और शास्त्र को जानने वालों से जो वन्दनीय हैं ऐसे शास्त्र योनि एवं जगद्योनि सुरेश्वर श्रीकृष्ण की मैं वन्दना करता हूँ।

श्रीगिरिधरप्रपन्नविरचित लघुमञ्जूषा में चतुर्थकोष्ठिका समाप्त।

शुभं भूयात्।।

अ० भा० श्रीनिम्बाचार्यपीठ, निम्बार्कतीर्थ-सलेमाबाद

जि0 अजमेर (राजस्थान) 305815

ग्रन्थ सूची

फोन नं. 01497-227831

श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय एवं श्रीनिम्बाचार्यपीठ	40)
जीवनवृत्त सौरभ	15)
श्रीगीता विशेषांक (दो भाग)	60)
श्रीमद्भगवद्गीता	40)
श्रीभगवत्सेवा पद्धति	7)
श्रीतुलसी श्यामश्री एवं गोपीचन्दन माहात्म्य	10)
वेदान्त कारिकावल्ली	50)
श्रीगोपालसहस्र नामावली	20)
नित्य स्तुति संकीर्तन	5)
नित्यकर्म पद्धति	10)
श्रीपरशुराम दोहावली	5)
श्रीकृष्ण प्रार्थना शतकम्	15)
श्रीगीतामृत गंगा	20)
श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य व्यक्तित्व एवं कृतित्व	150)
स्वधर्मामृतसिन्धु	21)
श्रीसुदर्शन कवचम्	3)
श्रीसर्वेश्वर चालीसा एवं निम्बार्क चालीसा	3)
जगद्गुरु निम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्री श्रीजी महाराज-श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य स्तव साहित्य अध्ययन	35)
श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज चमत्कारपूर्ण घटनाएँ	10)
पुष्कर परिक्रमा मार्ग दर्शन	10)
श्रीनिम्बार्क प्राकट्य स्थल	5)
सनातन धर्म सम्मेलन स्मारिका	21)
व्रजयात्रा अंक	10)
श्रीरामकथा अंक	21)
शरणागति अंक	10)
स्वर्ण जयन्ती स्मारिका	51)
श्रीराधापंचाशिका	10)
स्वाध्याय रत्नमाला	10)
परशुराम सागर	100)
श्रीसर्वेश्वर स्तोत्रमाला	2)
श्रीव्रजदासी भागवत (दो भाग)	200)
श्रीराधाकृष्णोपनिषद्	10)
श्रीनिम्बार्क सहस्रनाम	11)
वेदान्त कामधेनु दशश्लोकी	2)
वैष्णव सन्ध्या	3)
भक्तमाल	451)
श्रीहावाणीजी	400)

श्रीनारायण स्वामी और उनका साहित्य	50)
श्रीजयसाह सुजस प्रकाश	25)
श्रीकृष्ण चरित मानस (अर्थ सहित)	100)
श्रीकृष्ण चरित मानस (मूल)	75)
श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य उपासना, सिद्धान्त एवं आचार्य परम्परा	150)
निम्बार्क गौरव	100)
स्तव मंजरी	2)
स्तुति संकीर्तन	2)
श्रीराधाकृपाकटाक्ष	10)
द्वैताद्वैत विवेक	40)
वैष्णव संस्कार कौस्तुभ	05)
वेदान्त पदार्थ परिचय	10)
सेवा सुख	25)
सेवा सुख की रसिक–बोधिनी टीका	20)
वृन्दावनाम	200)
वेदान्त दशश्लोकी–तत्वालोक हिन्दी भावार्थ सहित	5)
श्रीमुकुन्दमहिमा स्तोत्रम्	5)
श्रीपरशुरामदेवाचार्यचरितम्	5)
श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य 5100वीं जयन्ती महो.स्मारिका	50)
तत्व चरित्र	7)
निम्बार्कतीर्थ माहात्म्य	5)
वेदान्तदशश्लोकी हि.सं. अंग्रेजी	10)
श्रीनिम्बार्क जन्मकथा	3)
हंसवल्ली	2)
हंससुधा	5)
हिन्दी के भक्ति साहित्य में राजस्थानी निम्बार्क सन्त कवियों का योगदान	100)
वेदान्त तत्त्वसुधा	10)
तत्त्व सिद्धान्त बिन्दु	10)
पिप्पलाद तीर्थ की खोज	5)
श्यामबिन्दु महिमा	5)
युगलरसमाधुरी	5)
श्रीराधाष्टकस्तोत्र एवं श्रीकृष्णशरणागतिस्तोत्र	5)
अ.भा. जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ संक्षिप्त परिचय	10)
श्रीनिम्बार्क वैष्णव परिषद् नेपाल अत्यावश्य विज्ञप्ति	10)
आचार्य स्तव	10)
श्रीराधा स्तोत्रम्	10)
श्रीराधा–निम्बार्क–गुरु चालीसा	5)
मनमोहन कवितावल्ली	5)
श्रीहरिव्यास यशसमृत	40)
श्रीनिम्बार्क समय समीक्षा	25)
आचार्य परम्परा	20)
सिद्धान्त मन्दाकिनी	100)
पं. अमोलकरामजी शास्त्री जो. परि.	5)
अर्थ पंचक निर्णय	80)

भाषानुवादक

विद्वद्वरेण्य नैयायिक श्रीश्यामाशरण न्यायाचार्य